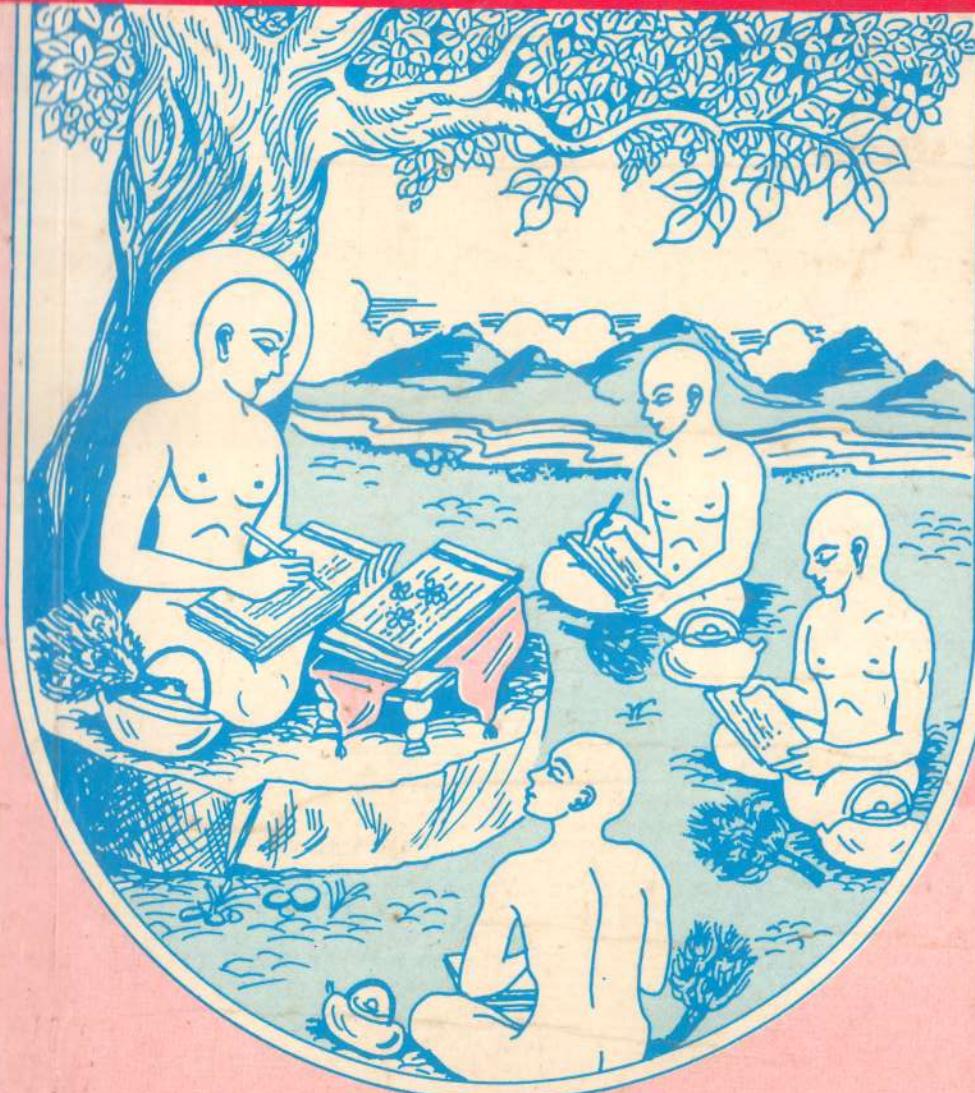


# ज्वलना शंकाओं का शीतल समाधान



लेखक

आचार्यरत्न श्री कनकनन्दीजी

ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

१४ तस्म भुवणेककगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स

## ज्वलंत शंकाओं का शीतल समाधान

लेखक - समाधान कर्ता  
आचार्यरत्न श्री कनकनन्दीजी

Acharya-Ratn Shree KanaknandiJi

प्रकाशक-Publisher

धर्म-दर्शन-विज्ञान-शोध संस्थान

Dharma-Darshan-Vigyan-Shodh Sansthan  
1997

ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

# ધર્મ દર્શન વિજ્ઞાન શોધ સંસ્થાન ગ્રથાંક-89

## જ્વલંત શંકાઓં કા શીતલ સમાધાન

લેખક	આચાર્યરલ શ્રી કનકનંદીજી ગુરુદેવ
આશીર્વાદ	ગણધરાચાર્ય શ્રી કુન્થુસાગર ગુરુદેવ
સહયોગી	ઉપા. શ્રી સુરદેવસાગર, મુનિશ્રી વિદ્યાનંદી, મુનિશ્રી ગુમિનંદી
અધ્યક્ષ	આર્થિકા રાજશ્રી, આર્થિકા ક્ષમાશ્રી, આર્થિકા ત્રદ્વાશ્રી
કાર્યાધ્યક્ષ	શ્રી ગુણપાલ જૈન, (મુજફરનગર)
વરિષ્ઠાધ્યક્ષ	શ્રી ભંવરલાલ પટવારી, બિજૌલિયા (રાજસ્થાન)
ઉપાધ્યક્ષ (સમ્પાદક-પ્રકાશન)	શ્રી સુશીલચન્દ્ર જૈન, બડૉત (મેરઠ)
	1. શ્રી પ્રભાતકુમાર જૈન (મુજફરનગર)
	2. શ્રી રાજમલ પાટોડી (કોટા)
	3. શ્રી રઘુવીર સિંહ જૈન (મુજફરનગર)
માનવ નિર્દેશક	ડૉ. રાજમલ જૈન (ઉદ્યપુર)
મંત્રી	શ્રી નેમીચન્દ કાલા (જયપુર)
સંયુક્ત મંત્રી	શ્રી પંકજકુમાર જૈન (બડૉત)
પ્રચાર મંત્રી	શ્રી અશોકકુમાર ગોધા (ઉદ્યપુર)
	ડૉ. નીલમ જૈન (સહારનપુર)
	સર્વાધિકાર સુરક્ષિત લેખકાધીન
દ્વિતીય સંસ્કરણ	1997
મૂલ્ય - જ્ઞાન પ્રચારાર્થ સહયોગ રાશિ -	41.00
પ્રતિયાં -	1000
દ્વયવાતા - ધર્મ-દર્શન વિજ્ઞાન શોધ સંસ્થાન, બડૉત (ઉ.પ.)	
પ્રકાશન એવં પ્રાપ્તિ સ્થાન - (1)	ધર્મ દર્શન વિજ્ઞાન શોધ સંસ્થાન, નિકટ દિ. જૈન ધર્મશાલા, બડૉત (મેરઠ)
	(2) નવ અલ્પના પ્રિન્ટર્સ એન્ડ સ્ટેનશનર્સ, મોડીખાના, જયપુર-3 (રાજસ્થાન)
	(3) પ્રભાતકુમાર જૈન, 48-કુંજગલી, મુજફરનગર
લેસર ટાઇપ સેટર્સ :-	શ્રી કુન્થુસાગર ગ્રાફિક્સ સેન્ટર 6, ઉમિયાદેવી સોસાયટી નં. 2 અમરાઈવાડી, અહમદાબાદ - 380026

## હદ્યોદ્ગાર

આચાર્ય કનકનંદીજી

મંગલ વીતરાગ દેવ: મંગલ સ્યાદ્વાદ વાણી।

મંગલ નિર્ગંધ ગુરુ: મંગલ અનેકાન્ત ધર્મ: ||

સર્વજ્ઞ વીતરાગ, હિતોપદેશી, તીનલોક કે પ્રભુ-વિભુ, તીર્થકર પરમદેવ કા શાસન અત્યન્ત શ્રી સમ્પન્ન, પરમ ગમ્ભીર સ્યાદ્વાદ અમોઘ લાંછન સે યુક્ત પરમ શ્રેષ્ઠ હૈ। ઇસ પરમ ઉદાત્ત શાસન મેં નય, ઉપનય, નિક્ષેપ, પ્રમાણ, અનેકાન્ત, સ્યાદ્વાદાદિ નિર્બાધ રૂપ સે અપને-અપને યોગ્યતાનુસાર સ્વ સ્વ સ્થાન મેં શોભાયામાન હોતે હૈને। ઇસ શાસન મેં કેસી કે ઊપર અનુદાર, હીન, કુટિલ આવરણ નહીં કિયા જાતા હૈ। જૈસે કે ધર્મરાજ ની છત્ર છાયા મેં ગરીબ શ્રીમંત્ર, રોગી-નિરોગી, જ્ઞાની-અજ્ઞાની આદિ સ્વયોગ્યતાનુસાર મુખ સે રહા કરતે હૈને।

કેવળ ગરીબ, શ્રીમંત હોને સે વિષમતા, કલહ નહીં હોતી હૈ, પરન્તુ પક્ષપાત, અન્યાય, અત્યાચાર, અનુદારાદિ ભાવ હોને કે કારણ રાજ્ય મેં વિલ્લવ હોતા હૈ। ઇસી કાર જિન શાસન મેં નિશ્ચય-વ્યવહારોં કા વર્ણન હોને સે વિલ્લવ નહીં હોતા પરન્તુ સ્વાર્થ ઠાગ્રહ, પક્ષપાત, સંકુચિત ભાવ, અજ્ઞાનાદિ કે કારણ વિલ્લવ હોતા હૈ। જૈસે વિલ્લવ સે શક્તિ આર્થિક-શારીરિક શક્તિ સામાજિક, સંગઠન ક્ષીણ હોતા હૈ તુસીપ્રકાર ધર્મ શાસન મેં ધાર્મિક વિલ્લવ સે ભી માનસિક, આધ્યાત્મિક, સામાજિક સંગઠનાદિ શક્તિ મણ હોતી હૈ।

જૈસે ધર્મત્મા ન્યાયપરાયણ પ્રજાવત્સલ રાજા વિલ્લવ કો ન્યાય માર્ગ સે દૂર કરકે ગાન્ધિ, સૌહાર્દ્દાદિ સ્થાપન કરતા હૈ તુસીપ્રકાર જૈન શાસન ભી વિશ્વ કે સમસ્ત ધાર્મિક, રાજનૈતિક, સામાજિકાદિ વિલ્લવ કો અનેકાન્ત/ સ્યાદ્વાદ રૂપી ન્યાય-પ્રણાલી સે દૂર કરકે શાન્તિ, સમન્વય સંગઠન સમતાદિ સ્થાપન કરતા હૈ। જૈન ધર્મ મેં અનેકાન્ત, યાદ્વાદ, અહિસા અપરિગ્રહાદિ સિદ્ધાન્ત કે કારણ પ્રાચ્ય-પાશ્ચાત્ય કે અનેક રાજનીતિ વશારદ, જ્ઞાની મનીષી, તત્વવેત્તા, દાર્શનિક, ધર્મવિદો ને જૈન ધર્મ કો સર્વોચ્ચ શાન્તિપ્રિય સમન્વયાત્મક, વૈજ્ઞાનિક, વિશ્વર્ધમ કે રૂપ મેં મુક્તહૃદય સે સ્વીકાર કરકે મુક્ત કંઠ સે શંસા કી હૈ।

ઇસપ્રકાર અત્યન્ત ઉદાર, અનેકાન્ત/સ્યાદ્વાદમય સમન્વય ધર્મ મેં આજ અનેકાનેક કા, પ્રતિશંકા, વાદ-વિવાદ, ક્રિયા-પ્રતિક્રિયા, ધર્ષણ-સંધર્ષણ વિલ્લવાદિ ચલ રહે હૈ। જૈસે કે ‘‘દીપક કે નીચે અન્ધેરા’’ હોતા હૈ। જો જૈન ધર્મ સમસ્ત વિષમતા કો નષ્ટ કરને વાલા થા વહી આજ વિષમતા મેં ભરા હુઅ હૈ। જૈસે કે પહલે ‘‘દીપક કે નીચે

## અન્ધેરા

अन्धेरा "था अभी विद्युत दीपक के ऊपर अन्धेरा होता है। यह अत्यन्तः दुःख, संताप, शोचनीय, घृणित निन्दनीय विषय है। जैसे जब तक अग्नि को शान्त करने के लिये ईन्धन डालते रहेंगे तब तक अग्नि शान्त न होकर अधिक प्रज्वलित होती जायेगी। इसी प्रकार जब तक शंकाएँ शान्त करने के लिये कुर्तक-वितर्क रूपी ईन्धन डालते जायेंगे तब तक शंका रूपी अग्नि ज्वाला और भी बढ़ती ही जायेगी न कि घटेगी। परन्तु जैसे जल अग्नि पर डालेंगे तो अग्नि शान्त हो जायेगी। उसी शंका रूपी अग्नि के ऊपर अनेकान्त-स्याद्वादमय सुरक्षकमय समाधानरूपी जल डालेंगे, तब शंका रूपी अग्नि शान्त हो जायेगी।

जब तक अनन्त अतीन्द्रिय, आत्मोत्थ, अव्याबाध ज्ञान नहीं होता है तब तक छद्मस्थ जीव पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। वह केवल आंशिक सत्य के जान सकता है। और उस सत्यांश को ही पूर्ण सत्य मान बैठेगा तो वह मिथ्यादृष्टि बन जायेगा। अनन्त केवलज्ञानी अर्हन्त सर्वज्ञ होने के कारण वह पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करके दिव्यध्वनि मूलक विभिन्न नयोपनय से सत्य का प्रतिपादन किया है। उन अरिहन्त सर्वज्ञ भगवान् ने जैसा प्रतिपादन किया है उसे उसीप्रकार मानना ही सम्यक्त्व है और अन्यथा मानना ही मिथ्यात्व है।

पूरे आगम को मानकर भी यदि कोई एक पद, अक्षर को नहीं मानता है तो वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है। वर्तमान में अनेक पश्चवग्राही, हठाग्रही पंडित हैं जो कि एक पद ही क्या अनेक गाथाओं को अध्याय को, और शास्त्रादि को ही नहीं मानते हैं। आपके जो अनुकूल हो वही जिनवाणी, जिसमें अपने अनुकूल विषय नहीं वह जिनवाणी ही नहीं, यह कहाँ का सिद्धान्त है जिनवाणी में जो कुछ है उसका वह प्रतिपादन करेगी ही फिर चाहे कड़वा लगे चाहे मीठा लगे। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

एक दिन कारणान्तर से राजपुरोहित ने राजसभा में नहीं जाकर अपने बेटे का भेजा। पुरोहित पुत्र राजा को धर्म उपदेश देते हुये बोला कि – जो एक बिन्दु मध्यपाकरता है वह नरक जाता है, राजा मध्य पीता था। राजा को लगा कि मैं मध्यपायी होने के कारण मेरे ऊपर व्यंग कर रहा है। राजा को भरी सभा में अपमान महसूस हुआ वि राजा नरक जायेगा। उसी समय राजा ने पहरेदारों को आदेश दिया, इस मेरे निंदक व कैद खाने में डाला जाय। राजाज्ञा से पुरोहित के बेटे को कैदखाने की सजा हुई। जब इ बात की जानकारी पुरोहित को मिली तो वह राज दरबार पहुँच गया, और राजा बोला राजन्‌ मेरे बेटे से क्या दोष हुआ? उसे आपने कैद में बंध क्यों करवाया। राजा ने कहा कि आप का बेटा! राजसभा को धर्मोपदेश देते हुये बोला कि, जो एक बूँद मध्य पीता है वह नरक जायेगा। तो उसका वह आक्षेप मेरे ही ऊपर होने से उसे मैंने कै किया है। पुरोहित ने पूछा कि आप कितना मध्य पीते हैं? राजा ने कहा—बोतल भर पीत हूँ। तो फिर मेरे बेटे ने तुम पर आक्षेप नहीं किया। आपने तो मेरे बेटे की पूरी बात सुन

## અન્ધેરા

ही नहीं है। मेरे बेटे का तो कहना है जो एक बूँद मध्य पीता है वह नरक जायेगा, किन्तु जो बोतल भर पीता है वह स्वर्ग जायेगा इससे राजा बहुत खुश हुआ। और पुरोहित के बेटे को कैद से मुक्त करके पुरस्कृत किया।

उपरोक्त उदाहरणानुसार वर्तमान की यही परिस्थिति है। एक पद अक्षर को नहीं मानने वाला मिथ्यादृष्टि और शास्त्र ही शास्त्र नहीं मानने वाला अपने को सम्यग्दृष्टि घोषित करता है। अपना पक्ष, स्वार्थ, मत को धक्का लगता है तो शास्त्र को ही नहीं मानता है। अपना कपोल-कल्पित मत जिससे सिद्ध होता है उसको ही सत्य मानते हैं भले असत्य हो, किन्तु सम्यग्दृष्टि दुराग्रही नहीं होता। वह “मेरा सो सत्य” नहीं कहता है वह “सत्य सो मेरा” कहता है। वह सत्य का उपासक होता है। अपनी अज्ञानता अल्पज्ञता के कारण तथा गुरु की अल्पज्ञता या विस्मृति के कारण कभी अयथार्थ को भी श्रद्धान कर सकता है, तो भी सम्यग्दृष्टि ही है। कारण उसका श्रद्धान तो यही है कि जो कुछ भगवान् ने कहा है वह ही गुरु ने कहा है अतः वही सत्य है, वही उपादेय है। परन्तु यदि दूसरे किसी विशेष ज्ञानी के शास्त्र प्रमाण देकर बताने पर भी पूर्व के अयथार्थ श्रद्धान को नहीं छोड़ता है तो तब से वह मिथ्यादृष्टि बन जाता है। इसप्रकार हमारे अविच्छिन्न गुरु परम्परा से आयी हुई आचार्य गुणधर के द्वारा लिखित जयधवल की वाणी है। इसलिये मुमुक्षु को हठाग्रही न होकर, सत्य का उपासक, सत्याग्रही-सत्याचेषी-आगमभक्त होना चाहिये। वर्तमान में दिगम्बर धर्म में जो अनेक ज्वलन्त शंकाएँ अपनी प्रलयकारी, भयंकर ज्वाला से दह-दह जलकर धर्म को ही भस्म कर रही है। उसको यथाभक्ति, यथाशक्ति शीतल करने के लिये हमने इस पुस्तिका रूपी कलश में अनेक समाधान रूपी शीतल जल कण भरे हैं। वस्तुतः यह जल कण मेरा स्वतंत्र नहीं है। जो दिव्य-ध्वनि रूपी मेघ से निर्झरित हुआ था और परपरम्परागत अनेक अनेक आचार्य कृत शास्त्र रूपी अनेक जलाशय में लबा-लब भरा हुआ है, उसमें से मैंने एक-एक जल कण को लेकर इस पुस्तिका रूपी कलश को भरा है। अतः यह मेरी स्वतंत्र कृतित्व, भावधारा अथवा मत नहीं है। मात्र सागर से एक गागर को भर के आप सभी के हाथ में देने का ही प्रयास किया गया है।

इसे पुस्तक के लेखन कार्य में मेरी धार्मिक शिष्या :-

- (1) आशा अरविन्दुकुमार संघवी (2) जीमी मुकेशकुमार कोठारी (3) अमी किरीटकुमार शाह (4) जैनिशा कुमारपाल शाह (5) हीरल मफतलाल शाह का योगदान है उन्हें मेरा आशीर्वाद।

प्रथम संस्करण में अनेक गलतियाँ थीं उसे सुधारकर और ‘विभिन्न प्रश्नों का विधिवत् उत्तर’ अध्याय को जोड़कर यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया है।

आचार्य कनकनन्दी ‘ईडर (गुजरात)’ 15-4-97

॥ श्री वर्धमानाय नमः ॥

## आचार्य श्री देवसेन का परिचय

श्री मान् उद्भट विद्वान् दि. जैन वीतराग महर्षि आचार्य देवसेन भाव संग्रह के कर्ता महोदय का संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है-

आचार्य देवसेन ने अपने बनाये हुये ग्रन्थ संग्रह में से अपने विषय में यह लिखा है-

सिरि विमलसेणगणहर सिस्सो णामेण देवसेणति।  
अहुजणवोहणतयं तेणेयं विरइनं सुतं ॥

अर्थात् श्री विमलसेन गणधर (गणी) के शिष्य देवसेन हैं। उन्हीं देवसेन आचार्य ने अज्ञ जनों को बोध कराने के लिये यह भाव संग्रह सूत्र ग्रन्थ रचा है। उसमें भी उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है।

पुलारिय क्याइं गाहाइं संचिक्तुण एष्यथ।

सिरि देवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ५९ ॥

रइओ दंसणसारो भवाण णवसए णवए।

सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे माहसुद्ध दसमीऐ ॥ ५० ॥

अर्थात् पूर्वाचार्यों की रची हुई गाथाओं को एक स्थान में संग्रह करके श्री देवसेन गणि ने धारा नगरी में निवास, करते हुए पाश्वरनाथ भगवान् के मंदिर में माघ सुदी दशमी विक्रम संवत् ९९० में यह दर्शनसार ग्रन्थ रचा।

इस उपर्युक्त कथन से दो बातें सिन्धु हो जाती हैं। एक तो यह कि आचार्य देवसेन स्वयं भी गणी थे अर्थात् गण के नायकथे और विक्रम संवत् ९९० में ये हुए हैं। इन्होंने अन्य अपने बनाये हुए ग्रंथों में अपना परिचय नहीं दिया है। और न उन ग्रंथों की रचना का समय बताया है।

यद्यपि इनके किसी ग्रन्थ में इस विषय का उल्लेख नहीं है कि किस संघ के आचार्य थे परन्तु दर्शनसार के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मूल संघ के आचार्य थे। दर्शनसार में उन्होंने काष्ठ संघ, द्राविड़ संघ, माथुर संघ, और यापनीय संघ आदि सभी दिग्म्बर संघों की उत्पत्ति बतलाई है। और उन्हें मिथ्यात्मी कहा है।

परन्तु मूल संघ के विषय में कुछ नहीं कहा है। अर्थात् उनके विश्वास के अनुसार यही (मूल संघ) मूल चला आया है और यही वास्तविक संघ है।

श्री देवसेन का आम्नाय

श्री देवसेन गणि ने दर्शनसार की ४३ वीं गाथा में लिखा है कि—  
जइ पउमर्णदिणाहो सीमंधरसामि देव्य णाणेण।

ण विवोहइ तो समणा कहं सुमगं पयाणंति ॥

अर्थात् यदि आचार्य पद्मनंदि (कुंदकुंद स्वामी), सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान के द्वारा बोध नहीं देते तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते। इस कथन से यह निश्चय हो जाता है कि आचार्य देवसेन गणि श्री कुंदकुंदाचार्य की आम्नाय में थे।

भाव संग्रह में (प्राकृत में) जगह जगह दर्शनसार की अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। और उनका उपयोग उन्होंने स्वनिर्मित गाथाओं की भाँति किया है। इससे इस विषय में कोई संदेह नहीं रहता कि दर्शनसार और भावसंग्रह दोनों के कर्ता एक ही देवसेन हैं। इनके अतिरिक्त आराधनासार और तत्वसार नामक ग्रन्थ भी इन्हीं देवसेन के बनाये हुए हैं।

पं. शिवलालजी ने इनके 'धर्म संग्रह' नामक एक और ग्रन्थ का उल्लेख किया है। परन्तु वह अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है।

नयचक्र के कर्ता भी श्री आचार्य देवसेन हैं परन्तु इस सम्बन्ध में स्वामी विद्यानंदि ने श्रूकवार्तिकालंकरा में यह लिखा है कि नयों का वर्णन विशेष रूप में जानना हो तो नयचक्र को देखो। इससे यह जाना जाता है कि जिस नय चक्र को आचार्य देवसेन ने बनाया है उससे पहले और कोई नयचक्र था, उसी का उल्लेख स्वामी विद्यानंदि ने किया है। जैसा कि नीचे लिखी बात से सिन्धु होता है।

माइल धबल के वृहत् नयचक्र के अंत की एक गाथा जो बम्बई प्रति में पाई जाती है यदि ठीक हो तो उससे इस बात की पुष्टि होती है, वह गाथा इसप्रकार है—

दुसमीरणेण पौयं पैरियसंतं जहा तिरं नदृं ॥

सिरि देवसेन मुणिणा तह णयचक्रं पुणो रइय ॥

इस गाथा का अभिप्राय यह है कि दुःषमकाल रूपी आँधी से जहाज के समान जो नयचक्र चिरकाल से नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनि ने फिर से रचा, इससे विद्यित होता है कि देवसेन आचार्य के नयचक्र से पहले कोई नयचक्र था जो नष्ट हो गया था और बहुत संभव है कि देवसेन ने दूसरा नयचक्र बनाकर उसी का उद्घार किया हो?

उपलब्ध ग्रंथों में नयचक्र नाम के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं और माणिक चन्द्र ग्रंथमाला में तीनों ही नयचक्र प्रकाशित हो चुके हैं। 1- आलाप पद्धति, 2- लघुनयचक्र, 3- वृहत् नयचक्र। इनमें पहला ग्रंथ-आलाप पद्धति संस्कृत में है और शेष दो प्राकृत में हैं।

आलाप पद्धति के कर्ता भी देवसेन आचार्य हैं। डॉ. भांडार रिचर्स इंसिट्यूट के पुस्तकालय में इस ग्रंथ की एक प्रति है उसके अंत में प्रति लेखक ने लिखा है कि “इति सुखवीधार्थमालयपद्धतिः श्री देवसेन विरचिता समाप्ता। इति श्री नयचक्रं सम्पूर्णम्”।

उक्त पुस्तकालय की सूची में भी यह नयचक्र नाम से ही दर्ज है। इसे नय चक्र भी कहते हैं और आलाप पद्धति भी कहते हैं। आलाप पद्धति के प्रारंभ में लिखा है कि आलापपद्धति वचन रसनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते। इससे विदित होता है कि नयचक्र से ही आलाप पद्धति को संस्कृत रूप में किया गया है और “देवसेनकृत” लिखा है, अतः यह उन्हीं देवसेन का रचा हुआ ग्रंथ है, यह सिद्ध है।

### लघु नय चक्र

लघु नयचक्र श्री देवसेनाचार्य का बनाया हुआ है। इससे पहले के कई नय विवेचक ग्रंथों को देखकर आचार्य देवसेन ने इसका नाम लघु नयचक्र रखा है ऐसा विदित होता है।

### आचार्य देवसेन की महत्ता और पूज्यता

द्रव्य स्वभाव प्रकाश नामका एक सुन्दर ग्रंथ हैं इसकी गाथा रूप में रचना माइल्ड ध्वल ने की है। ये माइल्ड ध्वल भी महा विद्वान् प्रतीत होते हैं। उन्होंने उक्त अपने “दब्बसहाव पयास” नामक ग्रंथ में लिखा है कि श्री देवसेन योगी के चरणों के प्रसाद से यह ग्रंथ बनाया गया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आचार्य देवसेन मूलसंघ के एक महान् योगी और महान् विद्वान् थे। और मुनिगण तथा आचार्यों द्वारा पूज्य थे। नय चक्र के अंत में यह गाथा मिलती है।

सियसद्गुणय दुष्णय दण्डे विदारणेकं वरवीरं।

तं देवसेण देवं णयचक्रं गुरुं णमह ॥ ४२ ॥

अर्थात् स्यात् शब्द सुनय द्वारा दुर्नय शरीर धारी दानव के विदारण करने में महान् वीर जो नयचक्र के कर्ता आचार्य देवसेन देव हैं। उन देवसेन गुरु को नमस्कार करो।

उपर्युक्त सभी कथनों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि आचार्य देवसेन गणी

एक महान् उद्भट विद्वान् आचार्य हुए हैं। वे दशमी शताब्दि में हुए हैं और आचार्यवर्य कुंदकुंद स्वामी की आमाय मूलसंघ के आचार्य थे। ये आचार्य विमलसेन गणी के शिष्य थे। और वे स्वयं अनेक मुनियों के गणी हुए हैं। आचार्य देवसेन ने भावसंग्रह नामक महान् ग्रंथ जो गंभीर एवं सूक्ष्म तत्वों से भरा हुआ बनाया है। इसके सिवाय उन्होंने आलाप पद्धति, दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्र आदि सिद्धांत के महान् ग्रंथों की रचना की है। श्रोक वार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि ने जिन नयों का वर्णन किया है वह वर्णन पुरातन नयचक्र से मिलता है। जिसके नष्ट होने पर आचार्य देवसेन ने लघु नय चक्र रचा है। जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आचार्य देवसेन आचार्य विद्यानंदी के पश्चात् हुए प्रतीत होते हैं इन आचार्य देवसेन की भगवत् कुंदकुंद आचार्य में दृढ़ श्रद्धा थी इस बात का उल्लेख उन्होंने दर्शनसार में किया है। इन्होंने मालवा प्रान्त को अपने विहार से बहुत काल तक पवित्र किया था।

### आचार्य देवसेन की रचना में महत्त्व

आचार्य देवसेन ने अपने बनाए हुए ग्रंथों में द्रव्य, गुण पर्यायों का बहुत ही गंभीर विवेचन किया है। नयों के गहन एवं सूक्ष्म विवेचन में जिन अपेक्षा वादों का निर्दर्शन किया है उनसे उनकी अगाध विद्वत्ता का परिचय सहज मिल जाता है। गुणस्थानों के स्वरूप के साथ उनका मार्गणियों में संघटन भी उन्होंने बहुत स्पष्ट रूप से किया है। स्थविरकल्पी, जिनकल्पी साधुओं का स्वरूप बताकर तो आचार्य देवसेन ने मुनिराजों के सञ्चन्धों में कुछ स्वाध्याय शील भ्रामक लोगों के भ्रम को सर्वथा दूर कर दिया है। हम श्रीमान् परमाराध्य श्री आचार्य देवसेन गणी के पुनीत चरणों में नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रगट करते हैं। कल्याणमस्तु।

मैनपुरी (यू.पी.)

भाद्रपद वि. स. 2013

आचार्योपासक

लालाराम शास्त्री



## विषय-सूची

### अध्याय -1

	पृ. सं.
विभिन्न प्रश्नों का विधिवत् उत्तर	15
(1) भगवान के नाम से पूर्व संख्या क्यों ?	15
(2) बोली क्या आगमोक्त है ?	15
(3) साधुओं में बन्दना प्रतिबन्दना	17
(4) आहारमुद्रा	19
(5) आर्थिकाओं की नवधार्भक्ति	20
(6) मिट्टी के बर्तन का प्रयोग	21
(7) साधुओं के सम्बोधन वाचक	24
(8) दीक्षा के समय नाम परिवर्तन	24
(9) साधु के सागर व मति का प्रयोग ?	24
(10) अरिहंत व सिन्धु प्रतिमा का आकार	26
(11) निर्माल्य ग्रहण	27
(12) जीव के 8 मध्यप्रदेश – क्या कर्मबन्ध से रहित ?	27
(13) गुरु परम्परा की मान्यता कहाँ तक ?	29
(14) वर्षायोग स्थापन व निष्ठापन क्रिया	33
(15) साधु का आवास व प्रवास	35
(16) पादोष्ण व वास्तव्य साधु का व्यवहार	40
(17) हरी-त्याग की परिभाषा	44
(18) साधु का वैयावृत्ति में योगदान	47
(19) साधु के अंतराय व बीमारी में कारण	53
(20) अभक्ष भक्षक तथा निर्मातादि में दोषी कौन ?	56
(21) क्षपक का अन्तिम संस्कार	58
(22) साधु के लिये हल्दी सोंठ भक्ष्य है या अभक्ष्य ?	69
(23) पथ मोक्षमार्ग है कि पंथ (सम्प्रदाय) मोक्ष मार्ग है ?	70

### अध्याय-(2)

#### समयसार

	पृष्ठ संख्या
(1) शास्त्राध्ययन क्रम	71
(2) समयसार का भावार्थ	73
(3) समयसार के लिये योग्य पात्र	75
(4) निश्चय नय किसके लिये ?	77
(5) व्यवहार नय त्यागने से हानि	77
(6) समयसार की दृष्टि में ज्ञानी व अज्ञानी	78
(7) मुख्य रूप से समयसार किसके लिये ?	85
(8) समयसार क्या ? उसका अनुभव कौन कर सकता है ?	86
(9) उपसंहार	89

### अध्याय-3

(1) दर्शनसार	92
(2) जैनाभास	92
(3) गोपुच्छक	93
(4) श्वेताम्बर-संघ	93
(5) द्राविड संघ	93
(6) यापनीय संघ	94
(7) निपिच्छिक संघ	95
(8) निमित्त उपादान से कार्य होता है	95
(9) नयचक्र	97
(10) नय	99
(11) निश्चय-व्यवहार नय	101
(12) आलाप पद्धति	103
(13) (आध्यात्मिक नय) श्रुतभवन दीपक नयचक्र	104
(14) नयपक्षातीत	109
(15) तत्त्वसार	112

# ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

(16)	पंचमकाल में भावलिंगी मुनियों का सद्भाव (मुनि निवास)	112	(45)	स्वाध्याय	159
(17)	पंचम में मुनियों की 1 वर्ष की तपस्या चतुर्थ काल में 1000 वर्ष के समान है।	115	(46)	संयम	160
(18)	पंचमकाल के अन्तिम तक भाव लिंगी मुनि	116	(47)	तप	161
(19)	आराधना सार	118	(48)	दान	161
(20)	ध्यान का पात्र	119	(49)	दानांश	163
(21)	भावसंग्रह	123	(50)	दान अभाव से दोष	164
(22)	मिथ्यात्व गुणस्थान	127	(51)	दान पूजादि क्या पाप बन्ध का कारण ?	165
(23)	एकान्त कालवादी	130	(52)	पाप-पुण्य	167
(24)	एकान्त नियतिवादी	130	(53)	पुण्य का लक्षण	169
(25)	प्रत्येक कार्य के लिए 5 कारणों की आवश्यकता	130	(54)	सालाम्बन एवं निरालम्बन ध्यान	169
(26)	मिथ्यात्व में बन्ध	134	(55)	गृहस्थों को उत्कृष्ट धर्मध्यान नहीं होने का कारण	170
(27)	सासादन गुणस्थान	136	(56)	अप्रमत्त गुणस्थान में मुनियों को निरालम्ब ध्यान	170
(28)	मिश्र गुणस्थान	137	(57)	सातवाँ गुणस्थान सकल संयमी (उपसंहार)	172
(29)	अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	137	(58)	मुनि का स्वरूप	172
(30)	देश विरत् (श्रावक)	141	(59)	मुनियों का कर्तव्य	173
(31)	अष्ट मूलगुण	143	(60)	यम नियमों का फल	174
(32)	श्रावक की षट् आवश्यक क्रियायें	144	(61)	शुभोपयोग एवं पुण्यपाप	179
(33)	देवपूजा	145	(62)	शुद्धात्मानुभुति	183
(34)	जिनदर्शन महिमा	145	(63)	परमध्यान के पर्यायवाचक शब्दार्थ	185
(35)	जिन चैत्य-चैत्यालय का स्वरूप	147	(64)	वीतराग निर्विकल्प समाधि	190
(36)	अकृत्रिम चैत्य	148	(65)	पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थों में होने योग्य ध्यान	194
(37)	जिनेन्द्र पूजा विधि	149	(66)	ध्याता का लक्षण	195
(38)	जिनेन्द्र भगवान की अभिषेक विधि	150	(67)	आज्ञा विचय धर्मध्यान	196
(39)	अभिषेक पूजा का फल	152	(68)	अपायविचय धर्मध्यान	197
(40)	अरिहंत भक्ति से तीर्थकर नाम कर्मबन्ध	155	(69)	विपाक विचय धर्मध्यान	197
(41)	गुरुपास्ति	156	(70)	संस्थान विचय धर्मध्यान	197
(42)	वैयावृत्य न करने में दोष	157	(71)	पृथकत्व वितर्क विचार शुक्लध्यान	197
(43)	वैयावृत्य का प्रयोजन व फल	157	(72)	एकत्व वितर्क विचार शुक्लध्यान	198
(44)	वैयावृत्य से तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध	158	(73)	सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान	198
			(74)	व्युपरत क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान	198

(75)	पंचमकाल में क्या भावश्रुतकेरली हो सकते हैं ?	पृ. सं.	198
(76)	शुभ क्रियाओं से कर्म निर्जरा		204
(77)	शुभोपयोग का स्वरूप		206
(78)	साता पुण्यास्त्रव वेदनीय आस्त्रव के कारण		206
(79)	पुण्य फल		207
(80)	पाप का स्वरूप		207
(81)	पापास्त्रव का कारण		208
(82)	पाप बन्ध का कारण		208
(83)	सम्यग्दर्शन घातक व्यक्ति		209
(84)	पाप फल		210
(85)	पाप अत्यन्त हेय है		211
(86)	अशुभ एवं शुभ भावों का फल		211
(87)	पुण्य त्याग करने योग्य व्यक्ति कौन है ?		212
(88)	किनके पुण्य हेय है ?		218
(89)	पाप भी उपादेय है		219
(90)	ध्यानावस्था—अप्रमत्त गुणस्थान		223
(91)	अपूर्व करण गुणस्थान		224
(92)	अनिवृत्तिकरण गुणस्थान		224
(93)	सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान		224
(94)	उपशान्त मोह गुणस्थान		225
(95)	क्षीण मोह गुणस्थान		225
(96)	जीवनमुक्त गुणस्थान		225
(97)	शैलेश		226
(98)	अरहंत का विशेष वर्णन		226
(99)	सिद्धावस्था		227
(100)	उपसंहार		228



### विभिन्न प्रश्नों का विधिवत् उत्तर

**प्रश्न (१)** भगवान् के नाम के पहले 1008, साधु के 108 तथा आर्यिका, क्षुल्लकादि के 105 लिखना या कहना क्या आगमोक्त है ?

**उत्तर :-** प्राचीन आगम में इसका कहीं भी वर्णन नहीं पाया जाता है। भगवान् तो अनंतगुणों के धारक होते हैं। उनके गुणों के लिए 1008 कहना उनके गुणों को कम करना है, सीमा में बँधना है। भले तीर्थकर के 1008 शारीरिक लक्षण होते हैं, और उनकी स्तुति 1008 नामादि से की जाती है तथापि यह स्थूल/व्यवहार है। इसी प्रकार साधु के मूलगुण 28, पाद्याय के 25 (या 28 + 25) आचार्य के 36 (या 28 + 25 + 36) होते हैं और उत्तरगुण तथा शीलादि के बहुभेद से युक्त होते हैं। आर्यिका उपचार से महाव्रती है और क्षुल्लकादि उत्कृष्ट श्रावक हैं, इनके लिए 105 विशेषण की संगति कैसे बैठ सकती है ? श्वेताबंर जैन साधु, वैदिक साधु आदि 1008, 1007, आदि विशेषण भी लगाते हैं। इस परिप्रेक्ष में विचार करने पर भी अनेक विसंगितयाँ उत्पन्न होती हैं। यह अंक लगाने पर भी कोई लाभ दृष्टिगोचर नहीं होता है। अनावश्यक रुद्धियों को भी यदि जानबूझकर स्त्याग नहीं कर सकते हैं तो मिथ्या—परम्परा आदि को त्याग करने का संस्कार या साहस हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

**प्रश्न २ (अ)** आगम में बोली (सवाल, हराज, नीलामी, धार्मिक सौदेबाजी) का वर्णन कहाँ है ?

**उत्तर :-** प्राचीन आगम में बोली का वर्णन कहीं भी नहीं है। बोली करना धार्मिक दृष्टि से योग्य भी नहीं है क्योंकि दान त्याग स्वेच्छा से प्रदर्शन के बिना होता है। धर्म तो आत्मा की सहज/स्वाभाविक/निर्मल परिणति है। धर्म धन के माध्यम से क्रय नहीं किया जा सकता है। बोली में अधिकांशतः धनवान् लोग धन के बल पर धार्मिक क्रियाओं को क्रय करते हैं। जैसे कि नीलामी में अधिक से अधिक धन देने वाला नीलाम वस्तु को क्रय करता है। बोली के कारण एक

शोषणकारी/परिग्रही भी धार्मिक अधिकार को प्राप्त कर लेता है। जिसके लिए वह धार्मिक दृष्टि से योग्य नहीं है परन्तु एक निर्धन किन्तु धार्मिक व्यक्ति उससे वंचित रह जाता है, जिसके लिए वह योग्य भी है।

अनेक बोली लेने वाले बोली का धन बहुत देरी से देते हैं तो कुछ बार-बार मांग मांग कर परेशान होने पर देते हैं तो कुछ देते तक नहीं हैं। क्या ऐसे परिस्थिति में वह बोली दान या त्याग हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती है क्योंकि दान या त्याग बिना मांगे, बिना संकलेश परिणाम के होता है। कहा भी है

**विन मांगे दूध बराबर मांगे मिले तो पानी।**

**कवीर वह है खून बराबर जामें स्तीयातानी॥**

बोली लेकर स्व-पर को संकलेश पहुँचाना पाप का कारण है। बोली का धन नहीं देना निर्माल्य खाने के बराबर पाप है। इसके साथ-साथ बोली से जो धन आता है उसके कारण अनेक बार झगड़ा होता है। कुछ तो उसे हड्डप लेते हैं तो कुछ उसका दुरुपयोग करते हैं। बोली के कारण आगमोक्त स्वस्थ दान परर्परा भी लोप होती जा रही है। जो बड़े-बड़े धार्मिक आयोजनों में लाखों की बोली लेते हैं उनमें से अनेक व्यक्ति साधुओं को आहारदान, औषधदान, ज्ञान-दान, वस्तिका दान तक नहीं देते हैं। धार्मिक आयोजन में मुख्य कार्यक्रम तो गौण हो जाते हैं (यथा—साधुओं का प्रवचन, पंचकल्याणक की संस्कार क्रिया, पूजा-पाठ) परन्तु बोली बोलना मुख्य हो जाता है।

बोली लेने वाला भले अन्यायी, शोषणकारी भी हो उसका सम्मान होता है, जिससे वह सोचता है चलो अन्याय से भी धन कमाने से क्या हुआ? बोली लेकर तो हम सम्मान प्राप्त कर लेते हैं और धार्मिक गिने जाते हैं। इससे अन्यायी को परोक्ष रूप में प्रोत्साहन मिलता है। अन्याय का धन भी जिस क्षेत्र में लगता है उसकी भी पवित्रता नहीं रहती है। और उसका विकास भी नहीं होता है। इतना ही नहीं, वहाँ कलह, फूट, चोरी मनोमालिन्यादि भी होते हैं।

बोली से धर्म की गरिमा, पवित्रता घटती है क्योंकि बोली में धर्म की सौदे बाजी जैसी क्रिया होती है, भीख मांगने की प्रवृत्ति जैसी होती है तथा चापलूसी या बलात्कार जैसी प्रवृत्ति पाई जाती है।

साधुओं के उपकरण यथा—पिछ्छी, कमंडल, शास्त्र, आहार दानादि की

बोली करना भी पूर्ण आगम असम्मत है क्योंकि आहार उपकरणादि उद्दिष्टादि दोष से रहित होना चाहिए। पंच कल्याणक में तीर्थकर मुनि के आहार दान की बोली तो और भी अयोग्य है। क्योंकि जब सामान्य मुनि भी उद्दिष्टादि दोष से रहित आहार लेते हैं तो तीर्थकर मुनि को भी उस दोष से रहित होना चाहिए।

क्या पूर्ण अपरिग्रह को जीवन में स्वीकार करने वाले मुनि आदि के लिए उस अपरिग्रह पथ को मानने वाले श्रावकों की बोली करना योग्य है? कदापि योग्य नहीं सुकृता है।

**प्रश्न (३) :-** वन्दना के परिवर्तन में आचार्य अन्य साधु या शिष्यों को प्रतिनमोऽस्तु करते हैं कि आशीर्वाद देते हैं?

**उत्तर :-** आचार्य अन्य साधु या शिष्यों की वंदना के परिवर्तन में प्रतिनमोऽस्तु करते हैं। आशीर्वाद देने का विधान कोई भी प्राचीन चरणानुयोग के शास्त्रों में नहीं है। विशेष जिज्ञासु मेरी ‘श्रमण संघ संहिता’ का अवलोकन करे। यहाँ प्राचीन शास्त्र के आधार पर किंचित वर्णन कर रहा हूँ। यथा—

**सुखेनासीनम व्यग्रं सूरि वंदेत् सम्मुखम् ।**

**वंदेऽहमिति विज्ञाप्य हस्तमात्रांतरस्थितः ॥६०॥ पृ. ७९**

**प्रमृज्य कर्तरी स्पर्शत्माष्टांगन्यवनीमपि ।**

**पार्श्वद्दर्शप्यायाऽनम्य रपिच्छांजुलिभालक ॥६१॥**

**विगौरवादि दोषेण सपिच्छांजुलि शालिना ।**

**सदज्जसूयोऽचार्येण कर्तव्यं प्रतिवंदना ॥६२॥ आ. वीरनन्दी**

अनाकुल होकर सुखपूर्वक बैठे हुए आचार्य के सन्मुख एक हाथ दूर गवासन से बैठकर, पिछ्छी सहित अंजुलि को मस्तक पर रखकर पूर्व में आचार्य को सूचित करें कि गुरुदेव मैं वन्दना करता हूँ। तदन्तर गुरुज्ञा होने पर अपने आठों अंगों को स्पर्श करें, भूमि आदि की पीछी से समार्जन करें तथा पिछ्छी सहित अंजुलि मस्तक पर रखकर गवासनगौ आसनसे अंगों को झुकाकर भवितपूर्वक आचार्य को नमोस्तु करें। जब मुनिराज आचार्य को वंदना करते हैं तब सज्जन कमल वन दिवाकर आचार्य रिद्धि गौरव, रसगौरव एवं सात गौरव रहित होकर हाथ में पिछ्छी लेकर नमोस्तु कहकर प्रतिवन्दना करें।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

सर्वत्रापि क्रियारंभे वन्दना प्रतिवन्दने ।  
गुरु शिष्यस्य साधुनां तथा मार्गादिदर्शने ॥ ५५/८ ॥ अ.ध.

अर्थात् सभी नित्य नैमित्तिक कृतिकर्म के प्रारंभ में शिष्य को आचार्य की वंदना करनी चाहिए और उसके उत्तर में आचार्य को शिष्य की वंदना प्रतिवंदना करनी चाहिए।

हथनारेणवाधे संफास पमज्जां पउज्जंतो  
जार्चेतो वंदण्यं इच्छाकारं कुणइ भिक्खु ॥ ६११ ॥  
तेण च पडित्तिदब्लं गारव रहिएण सुखभावेण  
किदियमकारकसवि संदेग संज्ञं तेण ॥ ६१२ ॥ ष. अ.मू.ग.

अर्थात् बाधारहित एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर शरीर आदि के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि स्पर्श एवं प्रमार्जन करता हुआ मुनिवंदना की याचना। प्रश्न करके वंदना करता है। तात्पर्यर्थ साधु, देव, गुरु की वंदना करते समय ‘हस्तान्तरेण’ एक हाथ की दूरी कम से कम होनी चाहिए। तत्पश्चात् पिच्छिका से अपने शरीर एवं भूमि का परिमार्जन करके पुनः प्रार्थना करे कि हे भगवन्! मैं आपकी वन्दना करूँगा। गुरु की स्वीकृति पाकर भय, आसादन आदि दोषों का परिहार करते हुए स्थिर चित्त से विनयपूर्वक उनकी वंदना करें।

और कृतिकर्म-वंदना करने वाले को हर्ष उत्पन्न करते हुए वे गुरु गर्व रहित शुद्ध भाव से वंदना स्वीकार करें। अर्थात् प्रतिवंदना करते हैं। इस गाथा की टीका में ‘तेण तेनाचार्येण (आ.वसुनंदी ने) ‘तेण’ शब्द का अर्थ आचार्य किया है।

### आचार्य आदि के लिए वन्दना करने का क्रम

गणाधीशान्मेद्धीमान् गुरु भक्त्या समाहितः ।  
वन्दनां प्रति दैद्याच्च वन्दनां दीक्षितेष्वपि ॥ ६६ ॥ नीतिसार स.

मुनिराज को गुरुभक्ति सहित संघ के संचालक आचार्य को नमस्कार करना चाहिए और दीक्षा धारक साधर्मी मुनियों की भी वंदना प्रतिवंदना करना चाहिए।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

इतर सामान्य साधर्मी सामान्य मुनि की परंपरानुसार नमोस्तु, प्रतिनमोस्तु करना चाहिए।

सर्वत्रापि क्रियारंभे वन्दनाप्रतिवन्दने ।  
गुरुशिष्यस्य साधुनां तथा मार्गादिदर्शने ॥ अ. धर्म. अ ४ श्लोक ५५.)

सभी नित्य या नैमित्तिक क्रिया करते समय शिष्य को गुरु से वन्दना करनी चाहिए और गुरु-आचार्य को भी उसके बदले में शिष्य से वन्दना करनी चाहिए। इसके सिवाय शेष मुनियों को भी रास्तादि में दर्शन हो जाने परस्पर में यथायोग्य वन्दना करनी चाहिए तथा मार्गशब्द के साथ आदि शब्द से मलोत्सर्ग के अनन्तर या कायोत्सर्ग के अनन्तर भी दर्शन हो जाने पर एक दूसरे को परस्पर में वन्दना प्रतिवन्दना करनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि जो मुनि वन्दना प्रतिवन्दना नहीं करते हैं वे आगम तथा साधुओं की अवहेलना करते हैं, अहंकारी हैं वात्सल्य भाव से रहित हैं।

प्रश्न (4) आहार-चर्या के समय आहार मुद्रा (दायें हाथ को दायें कन्धे में अंगुलियों को मिलाकर लगाना) लेना क्या अनिवार्य है?

उत्तर :— मूलाचार, भगवती आराधनादि मुनि आचरण संबंधी प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं पाया जाता है। मुद्रा लेने पर एक ही बाम हस्त में पिच्छ कमण्डल दोनों लेने पड़ेंगे। जिससे लेने में असुविधा के साथ-साथ ईर्यापथ शुद्धि की रक्षा भी पूर्णतः नहीं हो पायेगी क्योंकि रास्ते में छाया में धूप से, प्रवेश करते समय तथा एक प्रकार की भूमि से अन्य प्रकार की भूमि में प्रवेश करते समय पिच्छि से पूर्ण स्व-शरीर का परिमार्जन करना चाहिए। यदि एक हाथ में पिच्छी कमण्डलु दोनों हैं तो परिमार्जन सम्यक् रूप से नहीं हो सकता है। भगवती आराधना में ईर्यापथ समिति संबंधी गाथा (११८५) की टीका में कहा है कि साधु ‘प्रबिलम्बित भुजं’ अर्थात् दोनों भुजा लटकाकर गमन करते हैं। इस ही गाथा की टीका में आगे कहा है – ‘विरुद्ध योनि संक्रमणजातं बाधा व्युदासायकृतासकृतप्रतिलेखनं’ अर्थात् विरुद्ध योनि वाले (छाया से धूप या एक वर्ण की भूमि से अन्य वर्ण की भूमि विरुद्ध योनि कहते हैं। क्योंकि इसमें विरुद्ध योनि वाले जीव होते हैं) जीवों के मध्य से जाने पर उनको होने वाली बाधा को दूर करने के लिए पिच्छी से अपने शरीर को बार-बार प्रतिलेखना करते हुए गमन करते हैं।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

शुद्धिभिक्षौषणाकृताः प्रलभितमहाभुजाः ।

अर्हद्वत्तगृहं प्राप्ता भ्राम्यन्तस्ते यथायिथि

॥ 16 ॥ एव पु.प. 92

जो शुद्ध भिक्षा ग्रहण करने के अभिप्राय से युक्त थे और जिनकी लम्बी आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए।  
लम्बी भुजाएँ नीचे की ओर लटक रही थीं, ऐसे वें (सप्त ऋषि) विधिपूर्वक भ्रमण करते हुए अर्हद्वत्त सेठ के घर पहुँचे।  
संभवतः अर्वाचीन काल में श्रावकों को पता चले कि साधु आहार के लिए आ रहे हैं इस उद्देश्य से इस आहार मुद्रा का प्रचलन हो।

प्रश्न (5) क्या आहार चर्या में आर्यिकाओं की नवधा-भक्ति की जाती है? अष्ट द्रव्य से पूजा की जाती है?

उत्तर :- आर्यिका उपचार से महाव्रती (मुनिव्रत के धारी) हैं आर्यिका दीक्षा में मुनि व्रतों के ही संस्कार किये जाते हैं। उनमें 28 मूलगुणों का आरोपण किया जाता है। अशक्यानुष्ठान के कारण आर्यिकायें साड़ी धारण करती हैं, बैठकर भोजन करती हैं, परन्तु अधिकांशतः मुनिचर्या का ही पालन करती हैं।

मूलाचार में भी कहा है -

आर्यिकाओं के आचरण साधु के समान - “यदि यतीनामय न्याय आर्यिकाणां क इत्यत आह ।”

यदि मुनियों के लिए ऐसा न्याय है तो आर्यिकाओं के लिए क्या आदेश है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं।

एसो अज्जणांपिअ समाचारो जहकिखओ पुवं ।

सत्वमिम् अहोस्ते विभासिद्वो जधाजोगं ॥ 187 ॥

इसो-एसः। अज्जणांविय - आर्यणामपि च। समाचारी समाचार जहकिखओ- यथारख्यातो यथा प्रतिपादितः। पुवं - पूर्विमन्। सत्वमिम् - सर्वस्मिन्। अहोस्ते - रात्रौ दिवसे च। विभासिद्वो - विभाषयितव्यः प्रकटयितव्यो वा। जहाजोगं-यथायोगं आत्माकुरुपो, वृक्ष मूलादि रहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोपि समाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिवोजन प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथारख्यातिः पूर्वस्मिन्नति।

पूर्व में जैसा कहा गया है वैसा ही यह समाचार आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिए।

पूर्व में जैसा समाचार प्रतिपादित किया है, आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण काल रूप दिन और रात्रि में यथायोग्य अपने अनुरूप अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए।

इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए वे ही अद्वाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर, ग्रहण आदि तथा वे ही औधिक पदविभागिक समाचार माने गये हैं जो कि यहाँ तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित हैं। पात्र यथायोग्य पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें वृक्षमूल, आतापन, आवाकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है। और यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विधान का ग्रन्थ नहीं है।

इसी ग्रन्थ में आर्यिकाओं की विधि निषेधात्मक सम्पूर्ण क्रियाओं में यह वर्णन नहीं किया गया है कि आहारचर्या में उनकी नवधाभक्ति पूजादि नहीं होनी चाहिए। परन्तु यह कहा है कि वृक्षमूलादि कुछ विशेष क्रियाओं को छोड़कर और सम्पूर्ण क्रिया मुनिवत् ही है। इतना ही नहीं, श्री रविषेणाचार्य रचित पद्मपुराण में, जिनसेनाचार्य प्रणीत हरिवंश पुराणादि में विधिपरक वर्णन है कि आर्यिकाओं की पूजा होती है। यथा-

वरधर्माऽपिसर्वेण संधने सहितापरम्।

राघवेण ससीतेन नीता तुष्टेन पूजनम्। सर्ग 37, श्लोक - 138

उपर्युक्त श्लोक से सिद्ध होता है कि सीता सहित रामचन्द्रजी ने परम भक्ति, तुष्टि से युक्त होकर वरधर्मा आर्यिका की पूजा की।

शास्त्राङ्गाज्ञा है कि नवधा भक्ति बिना संयमी (मुनि, आर्यिका) आहार न करे। तब ऐसी परिस्थिति में आर्यिका नवधा भक्ति पूजा बिना आहार कैसे करें?

प्रश्न (6) क्या साधु मिट्टी के बर्तन में बना हुआ या भोजन पानी ले सकते हैं?

उत्तर :- जैनागम एवं आयुर्वेद की दृष्टि से भी साधु मिट्टी के बर्तन का सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोपि समाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिवोजन प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथारख्यातिः पूर्वस्मिन्नति। यात्र ‘मूलाचार’ के पंचाचाराधिकारः में वृत्तिपरिसंख्यान प्रकरण में कहा है -

गोयरपमाण दायणभायण णाणाविहाणं जं गहणं ।

तह एसणस्स गहणं विविहस्स य वृत्तिपरिसंख्या ॥ 355 ॥ भा. 1.

गृहों का प्रमाण, दाता, बर्तनों का नियम ऐसे अनेक प्रकार का जो नियम ग्रहण करना है तथा नाना प्रकार के भोजन का नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्या व्रत है। इसकी आचार्य वसुनन्दी कृत संस्कृत टीका में कहा है कि –

‘कांस्य भाजनेन्, रुद्ध्यभाजनेन्, सुवर्णभाजनेन्, मृद्युभाजनेन वा ददा तदा गृहीष्यामीति यदेवमाद्यं।’

‘मुझे आज यदि कोई कांसे के बर्तन से, सोने के बर्तन से या मिट्टी बर्तन से आहार देगा तो ले लूंगा।’

भगवती आराधना में कहा है –

‘पत्तस्य’ एवंशूतेन भाजनैवानीत गृह्णामि सौवर्णेन कंसपात्र्या राजते मृण्यमयेन वा। (गा. 223 की टीका)

‘पत्तस्स’ – इसप्रकार सोने, चाँदी, कांसी या मिट्टी के पात्र से ही लागया भोजन ग्रहण करेंगा।

रविषेणाचार्य विरचित पद्मपुराण में वर्णन है कि जब राम, लक्ष्मण, सीवन् और शैव के समय जंगल में थे तब वहाँ लक्ष्मण मिट्टी से बर्तन बनाते हैं उस बर्तन में सीता विभिन्न भोजन बनाती और राम सीता उस जंगल में सुगुप्ति और गुनामक दो मुनिश्वरों को आहार देते हैं। आहार दान के फलस्वरूप वहाँ पञ्चाश्री भी हुए थे। यथा –

तत्र भाण्डोपकरण सकलं केकपीसुतः ।	
मृदावशैः पलाशैश्च विविधैराशु निर्ममे ॥ २ ॥ प.पु.२, ४१८	
अभीषु स्वादवाचारुणि फलानि सुरभीनि च ।	
वनजानि च सस्यानि राजपुत्री समस्करोत ॥ १२ ॥ प. १९९	

वहाँ लक्ष्मण ने नानाप्रकार की मिट्टी, बांस तथा पत्तों से सब प्रकार बर्तन तथा उपयोगी सामान शीघ्र ही बना लिये। इन सब बर्तनों में राजपुत्री सीता ने स्वादिष्ट तथा सुन्दर फल और वन की सुगन्धित धान के भोजन बनाये।

तदन्तर युग प्रमाण पृथ्वी में जिनकी दृष्टि पड़ रही थी, जिनका गम अत्यन्त शांतिपूर्ण था और जिनके शरीर प्रमाद से रहित थे, ऐसे दो मुनियों द्वारा देखकर दम्पत्ति अर्थात् राम और सीता का उठकर खड़े होना, सन्मुख जाना

गुति करना और नमस्कार करना आदि क्रियाओं से उन दोनों मुनियों को पुण्य रूपी निझर के झराने के लिए पर्वत के समान किया था। जिनका शरीर पवित्र था, तथा जो अतिशयश्रद्धा से युक्त थी ऐसी सीता ने पति के साथ मिलकर दोनों मुनियों के लिए भोजन परोसा – आहार दान प्रदान किया। वह आहार वन में उपन्न हुई गायों और भैंसों के ताजे और मनोहर धी, दूध तथा उनसे निर्मित अन्य मावा आदि पदार्थों से बना था। खजूर, इन्हुंद, आम, नारियल, रसदार बेर, तथा भिलावा आदि फलों से निर्मित था। इसप्रकार शास्त्रोक्त शुद्धि से सहित नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों से उन मुनियों ने पारणा किया। उन मुनियों के चित्त भोजन विषयक गृह्णता के सम्बन्ध से रहित थे। इसप्रकार समस्त भावों से मुनियों का सम्मान करने वाले राम इन दोनों मुनियों की सेवा कर सीता के साथ बैठे ही थे कि उसी समय आकाश में अदृश्य जनों से ताङित दुन्दुभि बाजे बजने लगे, घ्राण द्विन्द्रिय को प्रसन्न करने वाली वायु धीरे-धीरे बहने लगी, धन्य, धन्य इस प्रकार देवों का मधुर शब्द होने लगा, आकाश पाँच वर्ण के फूल बरसाने लगा और पात्र दान के प्रभाव से आकाश को व्याप करने वाली, महाकान्ति का धारक, सब रंगों की दिव्य रत्न वृष्टि होने लगी।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि मुनि मिट्टी के बर्तनों में बने हुए एवं रखे हुए भोजन ले सकते हैं। आयुर्वेद एवं विज्ञान के अनुसार भी मिट्टी के बर्तन स्वास्थ्यप्रद एवं उपयुक्त हैं। गरम किये हुए जल को यदि मिट्टी के बर्तन में रखा जाता है तो वह जल अत्यन्त शीतल, दाह, घ्यास, पित्त को दूर करने वाला होता है। विशेष जिज्ञासु मेरे “धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान भाग I और II” एवं “आदर्श विचार विहार आहार” का अध्ययन करें।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस मिट्टी के बर्तनों में भात, शाकादि बनाये जाते हैं वे बर्तन दूसरे बार प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। क्योंकि बर्तन में अत्यन्त छोटे-छोटे छिद्र होने से उसमें पकाये हुए भोजन के कण रहने की संभावना रहती है। परन्तु जिस बर्तन में भोजन नहीं पकाया जाता है और जूठन नहीं किया जाता है उसको स्वच्छता से धोकर एवं सुखाकर बार-बार प्रयोग में ला सकते हैं। गरम पानी जिस मिट्टी के बर्तन में रखा जाता है, उस बर्तन को पानी की मर्यादा के पहले उससे पानी पूरा निकालकर उसे पूर्ण सुखाकर पुनः

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥ १ ॥

उसमें पानी रख सकते हैं।

अन्य धातु आदि के बर्तन में रखा हुआ तेल, घी आदि अधिक दिन सही रहता है परन्तु मिट्टी के बर्तन में रखने से अधिक दिन तक सही रहता है इतना ही नहीं, मिट्टी बर्तन में पका हुआ एवं रखा हुआ भोजन अधिक पौष्टिक स्वास्थ्यप्रद, सुस्वादु, सुगन्धित होता है। अनेक मांगलिक, शुभकार्य जैसे शोभायात्रा, पंचकल्याणक, विवाहादि में मिट्टी के कलश, सकोरा, दीपक, पात्रादि का भी प्रयोग किया जाता है।

**प्रश्न (7)** क्या जैन साधुओं को महाराज एवं आर्यिकाओं को माताजी विशेषण से सम्बोधित करना चाहिए?

**उत्तर :** — प्राचीन आगम में जैन साधुओं को श्रमण, विरत, आर्य, यशस्वी टीकाकार) देवसेन (भावसंग्रह के कर्ता) सोमदेव (उपासकाध्ययन के अनगार, यति, मुनि, ऋषि, तपस्वी, परमेष्ठी, दिग्म्बर, गुरुदेव, निर्गन्धी) प्रभाचंद्र, नेमिचंद्र आदि। उपर्युक्त विषय शास्त्रालोक में निम्न प्रकार से आदि विशेषणों से सम्बोधित किया जाता था तथा आर्यिकाओं के लिए आर्या, श्री हीय है —

साध्वी, विरती, आर्यिका आदि शब्द से सम्बोधित किया जाता था। अर्वाचीन काल में महाराज एवं माताजी शब्द प्रचलित हुए। कुछ स्थान में रसोइया (बावर्ची, खाना पकाने वाला नौकर) को महाराज बोलते हैं। माताजी शब्द स्थी वाचक सम्बोधन हैं अतः स्वस्थ, सुन्दर, शालीन, आगमोक्त सम्बोधन से सम्बोधन करना योग्य है। साधुओं के लिए 'गुरुदेव, भगवन्' भगवन्त्, मुनिश्री, उपाध्यायश्री, आचार्यश्री, तथा आर्यिकाओं के लिए आर्यिका श्री, हीय। साध्वी श्री आदि से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

**प्रश्न (8)** क्या दीक्षा के समय पूर्व नाम परिवर्तित करना अनिवार्य है?

**उत्तर :-** प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दीक्षा के समय में नाम परिवर्तन अनिवार्य नहीं था। जैसे — तीर्थकर, गणधर, चक्रवर्ती, बलदेव, आदि के गृहस्थ के नाम ही मुनि अवस्था में भी प्रयोग में आते थे। यहाँ तक कि सामान्य राजा, सेठ, मंत्री, रानी, श्रावकादि के नाम में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अभी भी श्वेताम्बर जैन तेरहपंथी में प्रायः नाम में परिवर्तन नहीं होता है। संभवतः आधुनिक समय में पूर्व गृहस्थावस्था के नाम में मोह नहीं हो और नाम तो अच्छे हों इस दृष्टि से परिवर्तन किया जा रहा है।

**प्रश्न (9)** साधु के नाम के आगे 'सागर' एवं 'आर्यिका' के नाम के आगे

'विशेषण क्यों लगाया जाता है?

यह कोई अनिवार्य विधान नहीं है प्राचीन तीर्थकर आदि मुनि के आगे न लगता था न आर्यिकाओं के नाम के आगे 'मती' लगता था। हाँ, जब लिकाल के प्रभाव से आचार्य अर्हद् बलि के समय में संघभेद या संघ संगठन आ. जटासिंह (वरांग चारित्र के कर्ता) देवनंदी (सर्वार्थसिद्धि, इष्टोपदेश, पद्मनंदी (आ. कुन्दकन्द) अभयनंदी, वीरनंदी, इन्द्रनंदी, आपदेश के कर्ता) पद्मनंदी (आ. नेमीचन्द्र ने गोम्मटसार में इन्हें गुरु रूप में स्मरण किया है) जिनसेन

**तदैव यति राजोऽपि, सर्व नैमित्तिकाग्रणी : ।  
अर्हद्बलि गुरुश्चक्रे, संघसंघदट्टन परम् ॥ ६ ॥**

नीति सा. पृ. 5  
समय में सभी निमित्त ज्ञानियों में अग्रणी अर्हद् बलि गुरुदेव ने सभी मुनियों अतिशयकारी संघ भेद अर्थात् प्रत्येक मुनिजन के समूहों (संघों का) निर्माण किया।

उन के द्वारा किये गये संघों के नाम

सिंहसंघो नन्दिसंघस्सेनसंघो	महाप्रभ	॥ १ ॥
देवसंघ इति स्पष्टं, स्थानस्थिति विशेषतः		॥ २ ॥
गण गच्छादयस्तेभ्यो, जाताः स्वपर सौख्यदा		।
न तत्त भेदः कोऽप्यस्ति, प्रवर्ज्यादिषु कर्मसु		॥ ३ ॥

स्थान और स्थिति यानि परिस्थिति विशेष से महा तेजस्वी सिंहसंघ नन्दि, सेनसंघ और देव संघ नामक मुनियों के चार संघ उत्पन्न हुए। उसके बाद उस संघ के लिए स्पष्टता से उत्तम सौख्य को देने वाले गण, गच्छादि भेद किए गए। उन तो अच्छे हों इस दृष्टि से परिवर्तन किया जा रहा है।

समान ही दीक्षा विधि, ब्रत पालन, इत्यादि क्रियायें हैं।

## कुछ पूर्वाचार्यों के नाम

श्री भद्रबाहुः श्री चन्द्रो जिनचन्द्रो महायति:	।
गृद्धपित्तु गुरुः श्रीमाल्लोहाचार्या जितेन्द्रयः	॥ ६७ ॥
एलाचार्य पूज्यपादः सिंहनन्दी महाकविः	।
जिनसेनो वीरसेनो गुणनन्दी महातपाः	॥ ६८ ॥
समनाभद्रः श्री कुम्भः शिवकोटिशिवंडकरः	
शिवायनो विष्णुसेनो गुणोभद्र गुणाधिक	॥ ६९ ॥
अकलंको महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः	।
प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्रः इत्याधैमुनि सत्तमः	॥ ७० ॥
यच्छास्रं रचितं नूनं तदैवादेयमन्यकैः	।
विसंधैरचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फट्टम्	॥ ७१ ॥

श्री भद्रबाहु, श्री चन्द्र, महायति जिनचन्द्र, गृद्धपिच्छ, जि  
ऐलाचार्य, पूज्यपाद, सिंहनन्दि, महाकवि जिनसेन, वीरसेन, मह  
समन्तभद्र, श्री कुम्भ, कल्याणकारी शिवकोटि मुनि, शिवायन,  
महाज्ञानी अकलंक स्वामी, विद्वानों में श्रेष्ठ सोमदेव सूरि, प्र  
आदि महामुनियों द्वारा रचितशास्त्र उपादेय (मान्य) यानि  
योग) हैं विसंघ के मुनियों द्वारा रचित शास्त्र प्रमाण नहीं है।

## प्रश्न

उत्तर :- हाँ, कुछ अरिहंत एवं सिद्ध की प्रतिमा तो आगमोक्त हैं, कुप्पति, भूमि तक हजम कर लेते हैं। विशेष जिज्ञासु मेरे द्वारा रचित “ये कैसे आगमोक्त नहीं हैं। जो अरिहंत प्रतिमायें सर्वांग अवयवों से युक्त, सन्दर एर्पान्ता निव्यर्सनी राष्ट्रसेवी” का अध्ययन करें।

अष्ट प्रातिहार्य से युक्त हैं वह आगमोक्त हैं तथा जो सिद्ध प्रतिमा अष्ट प्रातिहा प्रश्न (12) जीव के मध्य के 8 गोस्तनाकार प्रदेश जैसे निष्कर्ष हैं वैसे से रहित, समस्त अंग-उपांगों से सहित एवं अत्यन्त सुन्दर है वह आगमोक्त वैया निर्बन्ध (कर्म बन्धन से रहित) है ?

परन्तु जो अरिहंत प्रतिमा अष्ट प्रतिहार्य से युक्त नहीं है या सर्व अवयव से युक्त नहीं है, या सुन्दर नहीं है वह आगमोक्त नहीं है। इसप्रकार जो सिद्ध प्रतिमा सम्पूर्ण अंग—उपांगों से सहित नहीं है, सुन्दर नहीं है वह भी आगमोक्त नहीं है। वर्तमान में धातु की चट्ठदर को काटकर खोखला रूप में जो सिद्ध की प्रतिमा

नाते हैं पूर्ण आगम विरुद्ध एवं अमंगल, अशुभ सूचक है। आगम में – प्रतिष्ठा थों में प्रतिमा के अवयव हीन या विकृत होने का भी फल अशुभ धन–जननिकारक कहा है जो कि प्रायोगिक प्रत्यक्ष रूप से भी सत्य तथ्य पूर्ण है। तब पूर्ण अवयवों से हीन, खोखली सिद्ध की प्रतिमा किसप्रकार आगमोक्त हो सकती है? पूजनीय हो सकती है? शुभ हो सकती है? ऐसी मूर्ति तो प्रतिष्ठाचार्य, जमान, समाज, ग्रामादि के लिए अमंगलकारी बनेगी। समाज में कलह, फूट बढ़ेगी। विशेष वर्णन इस ही पुस्तक के जिन–चैत्य चैत्यालय प्रकरण में है। विशेष जासु मेरी 'जिनार्चना I, II' एवं 'पूजा से पुण्य, पाप तथा मोक्ष भी, कृतियों का भास्यन करें।

**प्रश्न (11) निर्मल्य ग्रहण किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :-** जो धर्म के लिए दान या त्याग किया जाता है उसे निर्मात्य कहते हैं। जैसे-पूजा में अर्पित किया गया द्रव्य, धर्म के लिए दान किया हुआ व्य, बोली में बोला गया द्रव्य, धार्मिक सम्पत्ति, धर्म की जमीन, धर्मशाला-

धार्मिक क्षेत्र में आया हुआ धन, गुप्त भंडार का धन, साधु संघ की व्यवस्था के निलाप प्राप्त धन निर्माल्य है। परन्तु प्रायोगिक रूप में पाया जाता है कि केवल पूजा भगवान् घढ़ाये हुए चावल, फलादि को निर्माल्य मानकर उसे हाथ से छू जाने पर भी चावल धोने वाले लाखों की धार्मिक सम्पत्ति, जमीन, भगवान् की प्रतिमा, धर्मशाला, यादिर, संस्था तक 'ॐ स्वाहा' (खा लेते हैं, हड्डप लेते हैं, अपने कब्जे में करते हैं) कर लेते हैं। यहाँ तक कि निर्माल्य के चावल यदि पश पक्षी खा जायेंगे

का वे नरक चले जायेंगे ऐसा मानकर पूजा में कम द्रव्य चढ़ाने वाले, निर्मात्य को भूमि में गाढ़ने वाले या आग में जला देने वाले भी धर्म की प्रचुर

कुरुपत्ति, भूमि तक हजम कर लेते हैं। विशेष जिज्ञासु मेरे द्वारा रचित “ये कैसे एषांता निव्यर्तनी राष्ट्रसेवी” का अध्ययन करें।

हा प्रश्न (12) जीव के मध्य के 8 गोस्तनाकार प्रदेश जैसे निष्कम्प हैं वैसे कौन कौन निबंध्य (कर्म बन्धन से रहित) हैं?

**उत्तर :-** नहीं, भले 8 प्रदेश निष्कम्प हैं परन्तु कर्म बंध से रहित नहीं है तो किंतु आस्व एवं बंध आत्मा के सम्पूर्ण असंख्यात प्रदेशों में होते हैं। आत्मा है एक अखण्ड असंख्यात प्रदेशीवाला द्रव्य होने से उसमें आस्व, बंध, संवर,

निर्जरा, क्षयोपशम, उपशम, क्षयादि क्रिया व परिणाम सम्पूर्ण असंख्यात् प्रदेश होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि यदि ४ प्रदेश निष्कर्म्म हैं तो उस प्रदेश में आस्तीन होते हैं।

एवं बंध कैसे हो सकते हैं? इसका समाधान यह है कि जिसप्रकार कालाणु अन्तर्प्रदेशी वाला आकाशद्रव्य के मध्य में असंख्यात् प्रदेशी वाला लोकाकाश में स्थित है परन्तु आकाश अखण्ड होने के कारण लोकाकाश में स्थित कालाणु के कारण अलोकाकाश में भी परिणमन होता है। उसी प्रकार आत्मा अखण्ड असंख्य प्रदेशी होने के कारण एवं अनादि काल से परम्परा से सम्पूर्ण प्रदेश में कर्म व होने के कारण ४ मध्यप्रदेश में भी कर्मबंध होता रहता है। इसके साथ-साथ आगम में ४ प्रदेश को निष्कर्म्म के साथ-साथ कर्मबंध से सहित कहा है। यथा

यह कहना भी ठीक नहीं है कि जो आत्म प्रदेश स्थित है उसमें कर्म व नहीं होता, क्योंकि योग थोड़े से जीव प्रदेशों में नहीं होता, एक जीव में प्रवृत्त योग की थोड़े से ही अवयवों में प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है। अथवा एक जीव प्रदेशों में उसके खण्ड-खण्ड रूप से प्रवृत्त होने में विरोध आता है। इसीलिये स्थित (स्थिर) जीव प्रदेशों में भी कर्मबंध होता है। ऐसा जाना जाता है। दूसरे योग समस्त जीव प्रदेशों में नियम से परिस्पन्द होता हो ऐसा नहीं है। (ध्वल पु. १ पृ. 366-367)

ध्वल पु. १२ में इसीप्रकार की शंका उठाते हुए शंकाकार ने कहा है—  
“जो जीवप्रदेश अस्थित हैं उनके कर्मबंध भले ही हो, क्योंकि वे प्रदेश योग सी हैं, किन्तु जो जीवप्रदेश स्थित हैं उनके कर्मबन्ध का होना संभव नहीं है, क्योंकि वे योग से रहित हैं।”

इसका समाधान श्री वीरसेन आचार्य ने निम्नप्रकार किया है—

“मण-वर्यण-कायकिरिया समुप्तीष्टी जीवस्तु उवजोग्नो जोग्नोमाम। च कर्मबन्धस्तु कारणं। ण च स्तो थोवेसु जीवपदेसेसु होमि, एग्जीवपर्यज्ञ थोवावयवेसु चेव वुत्तिविरोहादो एकक्लिहं जीवे खण्डखण्डेण पर्यज्ञविरोहादो व तम्हा द्विदेसु जीवपरेसेसु कर्मबन्धो अस्थितिग्निव्युदे। ण जोग्नादो नियमे जीवपदेसपरिकदो होमि, तरस्त तत्त्वो अणियमेण समुप्तीदो ण च एकांतेण णा-

पादि उप्पज्जयदि णियमुवलंभादो। तदो द्विदाणं पि जोग्नो अस्थिति कर्मबंध वाग्मिच्छियत्वं।”

मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रिया की उत्पत्ति में जीव का उपयोग होता वह योग है और वह कर्म बंध का कारण है। परन्तु वह थोड़े से जीवप्रदेशों में ही हो सकता है, क्योंकि एक जीव में प्रवृत्त हुए उक्त योग की थोड़े से ही अवयवों में प्रवृत्ति होने से विरोध आता है। अथवा एक जीव में उसके खण्ड-खण्ड में प्रवृत्त होने में विरोध आता है इसलिये स्थित जीव प्रदेशों में कर्मबंध होता यह जाना जाता है। दूसरे योग से जीवप्रदेशों में नियम से परिस्पन्दन होता है, यह नहीं है, क्योंकि यदि जीवप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है तो वह योग से ही पन होता है, ऐसा नियम पाया जाता है। इस कारण स्थित जीवप्रदेशों में भी योग के होने से कर्मबंध को स्वीकार करना चाहिए।

कर्म से रहित जीव, केवली, सिद्ध में इतना ज्ञान होता है कि अभी जितना यह है इससे भी अनन्तगुणा ज्ञेय होने पर भी उसको जान सकते हैं। जीव के प्रत्येक प्रदेश में भी आत्मा के अनंत गुण होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि ४ प्रदेश से रहित हो जायेंगे तो प्रत्येक संसारी भले वह अभव्य, निगोदिया, एकेन्द्रिय, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, नारकी मनुष्य हो—अनंत सुख, ज्ञान, वीर्यादि अनुभव करने वाला होगा जो कि आगम, प्रत्यक्ष एवं अनुभव विरुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि संसारावस्था में अकर्म्म (स्थित, स्थिर, ) ४ मध्यप्रदेश भी सम्बन्ध से सहित हैं।

**प्रश्न (१३) क्या गुरुपरम्परा सर्वथा मान्य है?**

**उत्तर :-** यदि गुरुपरम्परा पूर्णसत्य है तो मान्य है अन्यथा नहीं। सम्पूर्ण योग को केवली, सर्वज्ञ ही जान सकते हैं और सर्वज्ञ हितोपदेशी के द्वारा प्राप्तित सत्य ही गुरुपरम्परा में है तो मानने योग्य है, नहीं तो मान्य नहीं है। कुछ द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के अनुकूल तथा उत्सर्ग एवं अपवाद से सत्य-तथ्य सहित स्वस्थ्य गुरुपरम्परा भी मानने योग्य है। परन्तु इससे प्राप्ति कषाय, मिथ्यात्व ग्रसित, संकीर्णता से सहित, पक्षपात, मतवाद, हठाग्रह प्रकृति कपोल-कल्पित, स्वपक्ष (मत या परम्परा) को अन्य से अलग अथवा सिद्ध करने के कदाग्रह से प्रेरित अन्ध गुरु परम्परा मान्य नहीं है। सम्पूर्ण

ऋद्धि सम्पन्न 4 ज्ञान के धारी, सर्वज्ञ भगवान् के साक्षात् त्रेषु गणधर भी भगवान के उपदेश के अनुसार मानते हैं, जानते हैं और आचरण करते हैं वे भी स्वकपोलकल्पित कोई नया मत न स्वयं मानते हैं या दूसरों से मनवाते हैं। जो सत्य से पराङ्मुख होकर स्वच्छन्द होकर मनमाना करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे व्यक्तियों की परम्परा मान्य नहीं है। इसलिए तो गणधर, श्रुतकेवली, परम्पराचार्यादि श्री सर्वज्ञ हितोपदेशी के अनुसार मानते हैं, मनवाते, चलते-चलाते, सुनते, सुनाते, पढ़ते-पढ़ाते हैं। इसलिए तो शास्त्र-अध्ययन के पहले मंगलाचरण-प्रतिज्ञा में कहते हैं कि :-

श्री परमगुलवे नमः, परमपराचार्य गुरुवे नमः, सकलकलुष विद्यांसंक्षेपसं परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, पापप्रणाशकमिदं, थालं अस्य मूलवंश कर्ता श्री सर्वज्ञ देवाः, तदुत्तरबन्ध कर्ताः। श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधर देवाः तेषां वचोऽनुकूलमासाद्य श्री .... वामेधेयं) आचार्येण विद्यितं बन्धमिदं मंगलं भूयात् श्रोतारं स्वावधानतया शृण्वन्तु।

परन्तु अल्पज्ञ, अज्ञ, अज्ञानकार गुरु के नियोग से यदि कोई शिष्य सरलरूप से यह मानकर कि गुरु जो कह रहे हैं सत्य है अतः उसे मान लेता है तो वह मिथ्यादृष्टि नहीं है क्योंकि उसकी श्रद्धा सत्यप्रति है। किन्तु, यदि विशिष्ट ज्ञानी द्वारा कहने पर विशिष्ट सूत्र को दिखाने पर भी मिथ्या, परम्परा, रुद्धि, गुरुपरम्परा को नहीं त्याग करता है तब उस समय से ही वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है, क्योंकि उनमें सत्यग्राही दृष्टि नहीं है।

भगवती आराधना में कहा है-

सम्मादिष्टी जीवो उवाह्नं पवयणं तु सद्बृहि  
सद्बृहि असभावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ॥ 31 ॥

जो सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट अर्थात् सर्वज्ञ कथित जिनागम में श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है। किन्तु नहीं जानते हुए गुरु के नियोग से असत्य अथ का भी श्रद्धान करता है। गुरु ने विपरीत कथन किया है यह न जानते हुए असत्य भी अर्थ का श्रद्धान करता है। सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम का अथ आचार्य परम्परा से जो ठीक-ठीक सुना और अवधारित किया है वही आचार्य न मुझे कहा है। इसप्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा में उसकी सुचि है और आज्ञा में सुचि होते हुए भी निश्चय से उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।

तत्त्वे से वह सम्यग्दृष्टि ही है यह उक्त कथन का भाव है।

सुतादो तं समं दरसिजजंतं जदा ण सद्बृहि ।

सो चेत् हवाइ मिच्छादिष्टी जीवो तदो पहुदि ॥ 32 ॥

सूत्र से प्रथम गुरु के उपदेश से विपरीत रूप से ग्रहण किये अर्थ को अविपरीत रूप से अन्य आचार्य के द्वारा दिखलाने पर जब श्रद्धा नहीं करता वही सम्यग्दृष्टि उस समय से मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रथम गुरु के निर्देश से विपरीत अर्थ का श्रद्धान करने वाले उस सम्यग्दृष्टि को जब कोई दूसरे आचार्य गणधर आदि के द्वारा रचे गये आगम प्रमाण का आनंद लेकर यथार्थ अर्थ बतलावें और वह उस पर श्रद्धा न करके अपने विपरीत अर्थ को ठीक समझे तो सन्देह रहित अन्य शास्त्रों में दिखलाये गये अर्थ पर श्रद्धान न करने के समय से लेकर वह मिथ्यादृष्टि होता है क्योंकि वह आगम की आज्ञा का श्रद्धान नहीं करता तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की उसे बताना नहीं है।

सुतं गणधरगथिदं तहेव पतोयबुद्धकहियं च ।

सुदकेवलिणा कहियं अभिणदसपुविगथिदं च ॥ 33 ॥

जो गणधर के द्वारा रचा हुआ हो, प्रत्येक बुद्ध के द्वारा कहा हुआ हो, या श्रुतकेवली के द्वारा कहा हुआ हो या अभिन्न दशपूर्वी के द्वारा रचा गया हो वह सूत्र है।

गिहिदधो संविग्नो अत्युवदेसे ण संकणिज्जो हु ।

सो चेत् मंदधम्मो अत्युवदेसम्मि भजणिज्जो ॥ 34 ॥

जिसने सूत्र के अर्थ को ग्रहण किया है, संसार से भयभीत है वह सूत्रों के उपदेश में शङ्का करने के योग्य नहीं ही है। वही गृहीतार्थ मंद चरित्र वाला हो तो सूत्र के व्याख्यान में भाज्य है।

पदमकरवं एकं पि जो ण रोचेदि सुतणिद्विदुं ।

सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिष्टी मुणेयबो ॥ 38 ॥

जिसे पूर्वोक्त सूत्र में कहा एक भी पद और अक्षर नहीं रुचता। शेष में रुचि होते हुए भी निश्चय से उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

पद शब्द से पद का सहचारी पद का अर्थ कहा गया है। अक्षर से थोड़े शब्द लिये गये हैं, थोड़ा सा भी अर्थ अथवा शब्द श्रुत जो आगम में कहा गया वह जिसे नहीं रुचता और शेष आगम रुचता भी हो, तब भी उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना। जैसे बड़े कुण्ड में भरे हुए बहुत दूध को भी विषका कण दूषित कर देता है उसी प्रकार अश्रद्धान का एक कण भी आत्मा को दूषित कर देता है।

**मोहोदयेण जीवो उवझुं पवयणं ण सद्हादि ॥**

**सद्हादि असमावं उवझुं अणुवझुं वा ॥ 39 ॥**

मोह के उदय से जीव उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता। किन्तु उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असमीचीन भाव अर्थात् अतत्त्व का श्रद्धान करता है।

जो जीव उपदिष्ट प्रवचनों को मोह के उदय से श्रद्धान नहीं करता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्वाव का श्रद्धान करता है वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ मोह से दर्शनमोहनीय कर्म लेना। उनमें मद्य के समान शक्ति होती है, जैसे मद्य का सेवन बुद्धि को मन्द और विपरीत कर देता है। वही दशा इस दर्शन मोहनीय कर्म की है।

**मित्तं देदंतो जीवो विवीददंसणो होदि ॥**

**ण य धम्मं रोचेदि हु महुर खु रसं जहा जरिदो ॥ 40 ॥**

मिथ्यात्व को वेदन— अनुभव न करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। उसे धर्म नहीं रुचता। जैसे ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति को निश्चय से मधुर रस नहीं रुचता।

मद्य के समान ही मिथ्यात्व कर्म भी है। उसका उदय सहकारी कारण का सानिध्य पाकर अपना कार्य करने में कठिनबद्ध होता है। अतः उसके उदय के कारण शास्त्र में कहे गये वस्तु के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान नहीं करता, और कहे गये या बिना कहे अतत्त्व का श्रद्धान करता है।

**सुविहियमिमं पवयणं असद्हंतेणिमेण जीवेण ॥**

**बालमरणादि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥ 41 ॥**

अच्छी तरह से किये गये इस प्रवचन को अश्रद्धान करने वाले जीव ने अतीतकाल में अनन्त बाल मरण मरे।

पूर्वपर विरोध नामक दोष से रहित होने से तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

को ग्रहण करने वाले ज्ञान का कारण होने से प्रवचन को सुविदित कहा है। ऐसे प्रवचन का श्रद्धान न करने के दोष से इस जीव को अतीत काल में अनन्त बार बाल मरण से मरना पड़ा है।

**प्रश्न (14) चातुर्मास (वर्षायोग) की स्थापना एवं निष्ठापन क्रिया रात में या दिन में करनी चाहिए?**

उत्तर :- यह विधि आगम में दिन को करने का वर्णन नहीं पाया जाता है। आगम में यथाक्रम से रात्रि के प्रथम प्रहर एवं अंतिम प्रहर में करने का निर्देश है। यथा-

**तत्त्वतुदशी पूर्वात्रे सिद्धमुनिस्तुति ।**

**चतुर्दिक्षु परीत्यालयाश्रैत्यभवितर्गुरु स्तुतिम् ॥ 66 ॥**

**शानिभवितं च कुर्वाणीर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम् ।**

**ऋजकृष्ण चतुर्दशीयां पश्चाद्वात्रौ य मुच्यताम् ॥ अ. धर्मा. अ. 9**

ऊपर भक्त प्रत्याख्यान को ग्रहण करने की जो विधि बताई है तदनुसार उसको ग्रहण करने के अनंतर आचार्य प्रभृति साधुओं का वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिए और चातुर्मास के अंत में उसका निष्ठापन करना चाहिए। इस प्रतिष्ठापन और निष्ठापन की विधि से इस प्रकार है।

चार लघु चैत्यभवितयों को बोलते हुए और पूर्वादिक चारों दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा देते हुए आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी की रात्रि को पहले ही प्रहर में सिद्धभवित और योगभवित का भी अच्छी तरह पाठ करते हुए और पंचगुरु भवित तथा शांति भक्ति को भी बोलकर आचार्य और इतर संपूर्ण साधुओं का वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिए।

**भावार्थ :** —पूर्व दिशा की तरफ मुख करके वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करने के लिए ‘यावन्ति जिनचैत्यानि इत्यादि श्रोक का पाठ करना चाहिए। पुनः आदिनाथ भगवान् और दूसरे अजितनाथ भगवान् इन दोनों का ही स्वयंभू स्तोत्र बोलकर अंचलिका सहित चैत्यभवित करनी चाहिये। यह पूर्व दिशा की तरफ के चैत्य-चैत्यालय की बन्दना है। इसीप्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की तरफ की बन्दना भी क्रम से करनी चाहिए।’

अंतर इतना है कि जिसप्रकार पूर्वदिशा की बन्दना में प्रथम द्वितीय तीर्थकर

का स्वयंभूतोत्तर बोला जाता है उसीप्रकार दक्षिण दिशा की तरफ तीसरे, चौथे समवनाथ और अभिनन्दननाथ का तथा पश्चिम की तरफ की वन्दना करते समय पाँचवें, छह सुमित्रनाथ और पद्मप्रभु भगवान् का और उत्तर दिशा की वन्दना करते समय सातवें आठवें सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभु का स्वयंभू स्तोत्र बोलना चाहिए। और बाकी क्रिया पूर्वदिशा के समान ही समझना चाहिए।

यहाँ पर दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा करने के लिए जो लिखा है उस विषय में वृद्धसम्प्रदाय ऐसा है कि पूर्वदिशा की तरफ मुख करके और उधर की वन्दना करके वहाँ बैठे—बैठे केवल भाव रूप से ही प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

यह वर्षायोग के प्रतिष्ठापन की विधि है यही विधि निष्ठापन में भी करनी चाहिए। अर्थात् कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को अंतिम प्रहर में पूर्वोक्त विधान के अनुसार ही आचार्य और साधुओं को वर्षायोग का निष्ठापन कर देना चाहिए।

इस वर्षायोग की विधि में भी जो विशेषता है उसको श्लोक में बताते हैं—

मासं गासोऽन्यदैक्रमं योगक्षेमं शुचौ ब्रजेत् ।  
मार्गऽतीते त्यजेत्वार्थवशादपि न लंघयेत् ॥ 68 ॥  
नमश्वतुर्थीं तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपंचमीम् ।  
यावन् गच्छेत्तच्छदे कर्पंचिच्छेदमायरेत् ॥ 69 ॥

वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय—हेमन्त आदि क्रतु में भी आचार्य आदि श्रमण संघ को किसी भी एक स्थान या नगर आदि में एक महीने तक के लिए निवास करना चाहिए। तथा आषाढ़ में मुनिसंघ को वर्षायोग स्थान के लिए जाना चाहिए। अर्थात् जहाँ चातुर्मास करना है वहाँ आषाढ़ में पहुँच जाना चाहिये। और मृगसिर महीना पूर्ण होने पर उस क्षेत्र को छोड़ देना चाहिए। परन्तु इतना और भी विशेष है कि उस योगस्थान पर जाने के लिए श्रावण कृष्ण चतुर्थी का अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिए।

**भावार्थ—** यदि कोई धर्मकार्य का ऐसा विशेष प्रसंग उपस्थित हो जाय कि जिसमें रुक जाने से योगक्षेत्र में आषाढ़ भीतर पहुँचना न बन सके तो श्रावण कृष्ण चतुर्थी तक पहुँच जाना चाहिये। परन्तु इस तिथि का उल्लंघन किसी

प्रयोजन के वशीभूत होकर भी करना उचित नहीं है। इसीप्रकार साधुओं का कार्तिक शुक्ल पंचमी तक योगक्षेत्र के सिवाय अन्यत्र प्रयोजन रहते हुए भी विहार न करना चाहिये। अर्थात् यद्यपि वर्षायोग का निष्ठापन कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को हो जाता है फिर भी साधुओं को कार्तिक शुक्ल पंचमी तक उसी स्थापन पर रहना चाहिए। यदि कोई कार्य विशेष हो तो भी तब तक उस स्थान से नहीं जाना चाहिये।

यहाँ पर जो वर्षायोग धारण करने की विधि बताई है उसमें यदि किसी घोर उपसर्ग आदि के आ उपस्थित होने से विच्छेद पड़ जाय अर्थात् किसी कारण से उसके समय आदि का अतिक्रम हो जाय तो साधुसंघ को उचित है कि उसके लिए प्रायश्चित्त धारण करें।

**प्रश्न (15)** साधु एक स्थान में अधिक समय क्यों निवास नहीं करते हैं ?

**उत्तर :-** आगम में कहा है कि साधु एक स्थान में अधिक निवास करेंगे तो वे सुखाभिलाषी, प्रमादी, निवास स्थान, तथा वहाँ रहने वाले, सेवा करने वाले, आहार देने वालों के प्रति रागी हो जायेंगे।

विभिन्न स्थानों का ज्ञान नहीं हो पायेगा, विभिन्न संघ के अनुभव से भी वंचित हो जायेंगे। अनियत विहार से उपर्युक्त दोषों के विपरीत गुण उत्पन्न होंगे। अनियत विहार निवास के गुण का वर्णन आगम में निम्नप्रकार से किया है।

दर्शन विशुद्धि, स्थिति करण भावना, अतिशय अर्थों में निपुणता और क्षेत्र का अन्वेषण ये अनियत स्थान में बसने में गुण होते हैं। (गाथा, 144) भगवती आराधना पृष्ठ 181, गाथा-144 से 155 तक,

जिनदेवों के जन्म-स्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान और समवशरण के चिन्ह, मानस्तम्भ का स्थान, निषीधिका स्थान देखने वाले के सम्यक् रूप से निर्मल सम्यग्दर्शन होता है। (गाथार्थ 145)

सम्यक् आचार और अनशन आदि तप से युक्त विशुद्ध लेश्या वाले मुनियों का अनियतवास सम्यक् आचार वाले योग के धारी सम्यक्लेश्या वाले और संसार से भीत साधुओं में संसार से भय उत्पन्न करता है। सम्यक्चारित्र,

## ॐ शत्रुघ्ने रुद्रे वृषभे गृह्णात् अश्वे वृग्ने

सम्यक्तप और शुद्ध लेश्या में वर्तमान अनियत विहारी साधु को देखकर सभी सम्यक्त्याचारित्रवाले, सम्यक् तप करने वाले और शुद्ध लेश्या वाले यतिगण अत्यन्त संसार से भीत होते हैं। वे मानते हैं कि हम संसार से वैसे भीत नहीं हैं जैसे यह भगवान् मुनिराज हैं अत एव हमारा चारित्र और तप सदोष है।

अर्थात् सम्यक् आचार, तप और विशुद्ध लेश्या वाले अनियत विहारी साधु को देखकर अन्य मुनि जो सम्यक् आचारवान् हैं, तपस्वी हैं, विशुद्ध लेश्या वाले हैं वे भी प्रभावित होकर और भी अधिक आचार तप और लेश्या विशुद्धि में बढ़ने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह अनियतवास से परोपकार होता है, दर्शनविशुद्धि का लाभ तो अपना उपकार है।

जो उत्तम क्षमा आदि धर्म का पालक है और पाप से डरता है, सूत्र और उसके अर्थ में निपुण है, शठता से रहित है, ऐसा सदा देशान्तर में विहार करने वाला साधु दूसरों में विराग उत्पन्न करता है। (गाथार्थ नं. 147)

संविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधु को देखकर विहार करने वाला साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, संविग्नतर और अवद्यभीरु होता है ॥ 148 ॥

अनेक देशों में विहार करने से चर्या भूख-प्यास, शीत और उष्ण का दुःख संक्लेश रहित भाव से सहना होता है। वसति में भी ममत्व से रहित रहने में आती है। यहाँ चर्या शब्द से चर्या से होने वाले दुःख का ग्रहण किया गया है। जूता अथवा अन्य किसी वस्तु से अपने पैरों की रक्षा नहीं करने वाले साधु के चलते हुए तीक्ष्ण कंकड़, पथर, कांटे आदि से पैर छिद जाते हैं। अथवा गर्म धूलि से पैर झुलस जाते हैं। उसके दुःख को बिना संक्लेश के सहना चर्या भावना है।

अनजान देश में जहाँ पूर्व में कभी साधुओं का जाना नहीं हुआ और अनाज का संग्रह भी कम है, वहाँ योग्य भिक्षा के न मिलने से उत्पन्न हुआ भूख का दुःख सहना होता है। बहुत समय तक एक स्थान पर बसने से मनुष्य परिचित होने से अथवा उदारता वश भिक्षा देते हैं, इसलिए भिक्षा में बड़ा श्रम नहीं होता। शीत-उष्ण से शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श से होने वाला दुःख यहाँ लिया है। उसका अनुभवन अर्थात् संक्लेश रहित भाव पूर्वक सहना होता है तथा रहने के लिए जो वसतिका प्राप्त होती है उसमें भी 'यह मेरी है' ऐसा भाव नहीं रहता। ये

## ॐ शत्रुघ्ने रुद्रे वृषभे गृह्णात् अश्वे वृग्ने

सब विहार करने वाले मुनियों को सहना होता है। 149 ॥

देशान्तर में जाने से अनेक देशों के सम्बन्ध में कुशल हो जाता है। अनेक देशों में पाये जाने वाले शास्त्रों के शब्दार्थ के विषय में कुशल होता है। (गाथार्थ 150)

आचार्यों के दर्शन से ही सूत्र और अर्थ का स्थिरीकरण और अतिशयित अर्थों की उपलब्धि होती है। इसलिए आचार्य की सेवा करनी चाहिए। (151)

बहुत प्रकार के आचार्यों के गण में प्रवेश करने से वसति और दाता के घर से निकलने और प्रवेश करने आदि में जो उनका सम्यक् आचरण है उसमें प्रवीण होता है (गाथार्थ 152)

प्राणों के कण्ठ में आ जाने पर भी साधु को आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जैसे वह सूत्र का और अर्थ का और समाचारी का अभ्यास करता है। उसीप्रकार उसे आगम का अभ्यास करना चाहिए। (153)

जिस क्षेत्र में संयमी जन का प्रासुक विहार और सुलभ आहार हो, वह क्षेत्र देशान्तर में भ्रमण करने वाले सल्लेखना के योग्य जानता है ॥ 154 ॥

वसतियों और उपकरणों में, ग्राम में, नगर में, संघ में, और श्रावक जन में सर्वत्र यह मेरा है, इस प्रकार संकल्प से रहित साधु संक्षेप से अनियत विहारी होता है। वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, गण और श्रावक जन में सर्वत्र अप्रतिबद्ध है, यह वसति आदि मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ, इसप्रकार के संकल्प से रहित है उसे संक्षेप में अनियत विहारी जानना, इसप्रकार अनियत विहार समाप्त हुआ॥ 155 ॥

**उवसंतादीणमणा उवकरवसीला हवंति मज्जात्था ।**

**णिहुदा अलोलमसणा अविद्विभ्या कामभोगेषु ॥ 806 ॥ मूलाचार**

वे उपशान्त भावी दीन मन से रहित उपेक्षा स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूर्खता रहित और काम भोगों में विस्मय रहित होते हैं।

आगम में यह भी निर्देश है कि ग्राम में (1-2) दिन निवास करें और शहर में अधिक (4-5) दिन निवास करें। उपर्युक्त कथन बहुत ही सत्य तथ्य पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अनुभव परक है। पहले उपर्युक्त विषय सब सत्य होंगे, अभी भी अधिकांश विषय सत्य है परन्तु कुछ नवीन विषय भी अनुभव में आ रहे हैं।

## ॐ शत्रुघ्ने रुद्रे वृषभे गृह्णात् अश्वे वृग्ने

## ऋग्वेदसंक्षिप्तम्

(1) जैसे कि ऊपर कहा गया कि जिनदेव के जन्मस्थानादि के दर्शन से निर्मल सम्यक्दर्शन होता है। परन्तु वर्तमान में अधिकांश तीर्थक्षेत्र का वातावरण रागद्वेष, कलह, फूट, पंथवाद, दृष्टिराजनीति से प्रदूषित है। वहाँ धर्मात्मा से भी धनात्मा को अधिक महत्त्व मिलता है। साधुओं के आहार, विहार, निवास, ध्यान, अध्ययन आदि की व्यवस्था समुचित नहीं होती है। तीर्थक्षेत्र में साधुओं को और भी अधिक संक्लेश होता है।

(2) विहार में साधु परस्पर मिलते हैं। इससे ज्ञान, वैराग्य अनुभवादि का आदान-प्रदान होता है। परन्तु प्रायोगिक रूप से अनुभव में आता है कि अनेक साधु परस्पर मिलते नहीं हैं। कदाचित् मिलने पर आगमोक्त वात्सल्यभाव से मिलते नहीं हैं, परस्पर नमोस्तु, प्रतिनमोस्तु करते नहीं हैं अपितु एक दूसरों की वास्तविक या अवास्तविक भी गलती को उछालकर निन्दा, विवाद, कलह, करते हैं। जिससे और भी अधिक अप्रभावना होती है।

(3) ग्राम में कम दिन एवं शहर में अधिक दिन रहने की परिस्थिति अभी नहीं है। शायद प्राचीन काल में प्रत्येक ग्राम-नगरादि में जैन श्रावक अधिक मात्रा में होते थे और उनका अनुपात शहर में ग्राम से अधिक होता होगा। प्राचीन काल में शहर में आधुनिक औद्योगिकरण नहीं होने के कारण वर्तमान के जैसे प्रदूषण नहीं होना स्वाभाविक था। इसलिए ग्राम से भी शहर में अधिक रहने का निर्देश है। इसके साथ-साथ प्राचीन काल में सदाचार सम्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जैन, जैनेतर भी आहार वस्तिकादि देकर साधुकी सेवा करते थे। परन्तु वर्तमान् में उपर्युक्त परिस्थिति में महान् अन्तर है। कुछ ग्राम एवं नगर में जैन श्रावक एक भी नहीं रहते हैं। कुछ स्वयं को श्रेष्ठ जैन कहने वाले, साधुओं की सेवा करने की बात तो दूर रहे उन्हें गाली देते हैं, कष्ट देते हैं। कुछ शहर में जैनी तो रहते हैं और धार्मिक भी होते हैं। गुरुओं की सेवा भी करते हैं परन्तु वे इतनी दूर-दूर रहते हैं और अपने गृहकार्य में इतना व्यस्त रहते हैं कि रोज साधुओं के दर्शन तक नहीं कर पाते हैं, आहारादि देना तो दूर रहे, वर्तमान में शहर में तीव्रता से जनसंख्या की वृद्धि होने से साधुओं के लिए आवास, शौच, मूत्र-त्याग आदि की भी व्यवस्था नहीं होती है। प्रदूषण के कारण साधुओं को शुद्ध भोजन, पानी एवं प्राणवायु तक नहीं मिलती है। इसके कारण साधुओं का

## ऋग्वेदसंक्षिप्तम्

स्वास्थ्य खराब हो जाता है, ध्यान, अध्ययन, साधना भी व्यवस्थित नहीं होती है। इसलिए वर्तमान युग में शहर में रहना साधुओं के लिए योग्य नहीं है।

अभी भी राजस्थान, कर्नाटक, मध्यप्रदेशादि में ग्रामांचल में जैनियों की संख्या अच्छी है। भावना, भक्ति और व्यवस्था भी अच्छी है। इसलिए ऐसे स्थानों में साधुओं को विहार करना चाहिए। इसमें भी वहाँ के जैनियों की संख्या, श्रद्धा, सेवा, व्यवस्था को देखकर निवास करना चाहिए। जिस ग्राम में उपर्युक्त व्यवस्था है वहाँ चातुर्मास में तो 4-5 महिना निवास कर सकते हैं और अन्य समय में ऋतुयोग के अनुसार एक-एक महिना निवास कर सकते हैं। यथा—

**ऋतुषु षष्ठ्यु एकैकरमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा-**

**विहारति इत्यर्थं नवमः रितिकल्पः ॥ (भगवती आ.गा. 423वीं श्लोक)**

छह ऋतुओं में एक-एक महिना ही एक स्थान पर रहना और अन्य समय में विहार करना नवम स्थितिकल्प है। यह नियम भी तथ्यपूर्ण है। यदि ऋतु प्रकोप के समय में विहार किया जायेगा तो साधुओं को अनेक शारीरिक पीड़ा के साथ-साथ असंयम की संभावना रहती है। जैसा कि अधिक शीत (सर्दी) में विहार करने से जुकाम, खांसी, निमोनियादि रोग होने की संभावना रहती है। इस समय में घना कोहरा होने से ईर्यापथशुद्धि भी नहीं हो सकती है। इसी प्रकार से ग्रीष्म ऋतु में विहार करने से शरीर के जलकण सूख जाते हैं। गरम, उं पित्त बढ़ जाता है। गला, मुँह सूख जाते हैं, जिससे पित्तज्वर, लू-लगना, वान्न हैजा, अलसर, चक्कर आना, पीलिया आदि भयंकर रोग हो जाते हैं। इसके साथ-साथ जहाँ ऋतुयोग होता है वहाँ प्रवचन, शिविर, कक्षा, आहारदानादि से प्रभावना होती है। परन्तु 1-2 दिन निवास करने से उपर्युक्त अच्छे काम नहीं हो पाते हैं। साधुओं की सेवा आहारदान, व्यवस्था भी उत्तम रूप से नहीं हो पाती है। 2-3 दिन निवास के अनन्तर विहार करके पुनः कुछ दिन के बाद शीघ्र आने से भी वहाँ के लोगों में भावना जागृत नहीं होती है। इस ही प्रकार अधिक काल तक एक ही स्थान में रहने से भी भावना-व्यवस्था मन्द पड़ जाती है।

शास्त्र में कहा गया है कि एक स्थान में अधिक दिन रहने से राग बढ़ जाता है, परन्तु अनुभव में यह भी आ रहा है कि कुछ में तो राग बढ़ता है परन्तु अधिकांश में द्वेष बढ़ता है साधुओं के प्रति अनादर अवज्ञा भी बढ़ती है। एक

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

कवि ने कहा भी है -

**अति परिचित से होत है अनीति अनादर भाई।**

**मलयगिरि की भीलनी चन्दन देत जलाय ॥**

“नवे भवति खलु प्रीतिः अर्थात् नवीन में प्रीति होती है। इसलिये साधुओं को न एक स्थान में अधिक समय रहना चाहिए या कम समय रहकर पुनःपुनः वहाँ आना चाहिए। जहाँ भावना, भक्ति, व्यवस्था है वहाँ चातुर्मास में 4-5 महिना रहना चाहिए और ऋतु-योग में एक एक महिना रुकना चाहिए और शीत ऋतु में विशेषतः अनुकूल वातावरण में विहार करना चाहिए।”

**प्रश्न (16) परसंघ के आगन्तुक, (पादोष्ण) साधु के साथ स्थानीय, (वास्तव्य) साधुओं का परस्पर व्यवहार कैसा होना चाहिए?**

**उत्तर :-** आगन्तुक साधु के साथ स्थानीय साधुओं का व्यवहार वात्सल्य पूर्ण, विनय से युक्त, सेवा, (वैयावृत्ति) से सहित होना चाहिए। उनके स्वागत के लिए कुछ दूर जाना चाहिए। उन्हें यथायोग्य नमोस्तु, प्रतिनमोस्तु करना चाहिए, उनकी वसतिका आदि की भी व्यवस्था करनी चाहिए। उनके रलत्रय, सुख-साता की कुशलता के बारे में पूछना चाहिए। उनके साथ भेदभाव, रागद्वेष, तू-तू, मै-मैं पूर्ण व्यवहार न करके आत्मीयता पूर्ण व्यवहार करना चाहिए। रास्ते की थकान को दूर करने के लिए उनकी शारीरिक सेवा करनी चाहिए। आगंतुक साधु भी स्थानीय साधुओं को यथायोग्य नमोस्तु, प्रतिनमोस्तु आदि करके विनय करना चाहिए, वात्सल्यपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। किसी प्रकार के वास्तविक, अवास्तविक दोष को लेकर झगड़ा, वाद, विवाद, ईर्ष्या, घृणा, नहीं करना चाहिए। कहा भी है -

**पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा ।**

**दाणाणुवत्तणादीं विणये उवसंपया णेया ॥ (गा. 140 मूलाचार)**

आगन्तुक साधु को प्राधूर्णिक या पादोष्ण करते हैं। उनका अंग मर्दन करना, प्रिय वचन बोलना, आदि विनय है। उन्हें आसन देना आदि उपचार है। आप किस गुरु-गृह के हैं? किस मार्ग से आये हैं, अर्थात् आप किस संघ में दीक्षित हुए हैं या आपके दीक्षा गुरु का नाम क्या है? और अभी किस मार्ग से विहार करते हुए यहाँ आये हैं? ऐसा प्रश्न करना तथा उन्हें संस्तर-घास, पाटा,

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

चटाई आदि देना, पुस्तक-शास्त्र आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना आदि सब विनयोसंपत् है। तात्पर्य यह है कि आगन्तुक साधु के प्रति उस समय जो भी विनय व्यवहार किया जाता है वह विनयोपसंपत् है। सब प्रकार से उन्हें आत्मसमर्पण करना या उनको सभी तरह से अपने संघ में ग्रहण करना यह विनयोसंपत् है।

**पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा ।**

**उवसंपदा य मग्ने संजमतवणाणजोगजुताणं ॥ (गा. 142 मूलाचार)**

जो संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से सहित है ऐसे साधु यदि विहार करते हुए आ रहे हैं तो वे आगन्तुक कहलाते हैं। ऐसे साधु यदि कहीं ठहरे हुए हैं तो वे वास्तव्य कहलाते हैं। यदि आगन्तुक साधु किसी संघ में आये हैं तो वे साधु और अपने स्थान-वसतिका आदि में ठहरे हुए साधु आपस में एक दूसरे से मार्ग के आने-जाने से सम्बन्धित कुशल प्रश्न करते हैं अर्थात् ‘आपका विहार सुख से हुआ है न ?’ आप वहाँ से सुखपूर्वक तो आ रहे हैं न ? इत्यादि मार्ग विषयक सुख-समाचार पूछना मार्गोपसंपत् है।

**सुदुकर्वे उवयारो वसही आहारभेसजादीहि ।**

**तुम्हं अहंति वयणं सुदुकर्खवसंपया णेया ॥ 143 ॥**

यहाँ सुख-दुख निमित्तभूत है। इसलिए साधुओं के सुख-दुःख के प्रसंग में अथवा सुख-दुःख से युक्त साधुओं का वसतिका आदि के द्वारा उपचार करना अर्थात् यदि आगन्तुक साधु सुखी है और उन्हें यदि मार्ग में शिष्य आदि का लाभ हुआ है तो उन्हें उनके लिए उपयोगी, पिछी, कमण्डलु, आदि देना और यदि आगन्तुक साधु दुःखी है, व्याधि आदि से पीड़ित हैं तो उनके लिए सुखप्रद शय्या, संस्तर आदि आसन, औषध, अन्न-पान से तथा उनके पैर दबाना आदि वैयावृत्ति से उनका उपकार करना। ‘मैं आपका ही हूँ, आप जो आदेश करेंगे अब सब हम करेंगे’ अथवा ‘जो यह सब आपका है वह मेरा ही है’ ऐसे वचन बोलना यह सब सुख-दुःखोपसंपत् है।

**आएसं एजंतं सहसा द्वृण संजदा सबै ।**

**वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुद्दिति ॥ 160 ॥**

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत् तत्

आयासपूर्वक पर संघ से प्रयाण कर आते हुए आगन्तुक मुनि को देखकर संघ के सभी मुनि उठकर खड़े हो जाते हैं। किसलिए? मुनि के प्रति वास्तव्य के लिए, सर्वज्ञ की आज्ञा पालन करने के लिए, आगंतुक साधु को अपनाने के लिए और उनको प्रणाम करने के लिए वे संयत तत्क्षण खड़े हो जाते हैं।

**पत्नुगमणं किञ्चा सत्पदं अण्णमण्णणमं च।**

**पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छाणं कुञ्जा ॥ 161 ॥**

**गाथार्थ :-** वे मुनि सात कदम आगे जाकर परस्पर में प्रणाम करके आगन्तुक के प्रति करने योग्य कर्तव्य के लिए उनसे रलत्रय की कुशलता पूछें।

उठकर खड़े होकर वे संयत सात कदम आगे बढ़कर आपस में बन्दना प्रतिवन्दना करें। पुनः आये हुए अतिथि के प्रति जो कर्तव्य है, उसको करने के अनन्तर उनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रलत्रय का कुशल प्रश्न करें।

**162 - गाथार्थ-** क्रियाओं में और संस्तर आदि में सहवास तथा परीक्षा के लिए आगन्तुक को तीन रात्रि तक नियम से सहाय देना चाहिए।

**163 - गाथार्थ -** आगन्तुक और वास्तव्य मुनि अन्य-अन्य क्रियाओं के द्वारा और प्रतिलेखन के द्वारा परस्पर में एक दूसरे की क्रिया और चरित्र को जानने के लिए परीक्षा करते हैं।

**164 - गाथार्थ** - आवश्यक क्रिया के स्थान आदि में प्रतिलेखन करने, बोलने और उठाने-धरने में, स्वाध्याय में, एकाकी गमन में और आहार ग्रहण में परीक्षा करते हैं।

**165 - गाथार्थ -** आगन्तुक मुनि उस दिन विश्राति लेकर और परीक्षा करके विनय पूर्वक अपने आने के कार्य को दूसरे या तीसरे दिन आचार्य के पास निवेदित करता है।

**166 - गाथार्थ -** आगन्तुक का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमणादि के विषय में गुरु प्रश्न करते हैं।

**167 - गाथार्थ -** यदि वह क्रिया और चारित्र में शुद्ध है, नित्य उत्साही, विनीत है और बुद्धिमान है तो श्रुतज्ञान के सामर्थ्य के अनुसार उसे अपना इष्ट कहना चाहिए।

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत् तत्

**168 - गाथार्थ -** यदि वह अन्य रूप है, अयोग्य है तो उसका छेद करके उपस्थापन करना चाहिए। यदि वह छेदोस्थापना नहीं चाहता है और वे आचार्य उसे रख लेते हैं तो वह आचार्य भी छेद के योग्य हो जाता है।

**169 - गाथार्थ-उपर्युक्त विधि** से वह मुनि ठीक है और उपर्युक्त विधि से ही यदि आचार्य ने ग्रहण किया है तब वह प्रयत्नपूर्वक सूत्र के अर्थ को ग्रहण करता हुआ ऐसा करे।

**173 - गाथार्थ -** आचारवृत्ति-उद्भ्रामक-ग्राम अथवा चर्या, उसके लिए गमन उद्भ्रामक गमन है। आदि शब्द से मलमूत्र विसर्जन आदि को लिया है। अर्थात् किसी ग्राम में जाते समय या आहार के लिए गमन करने में, मलमूत्रादि त्याग के लिए जाते समय- उत्तर-प्रकृष्ट योग, अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों को धारण करते समय, अपने किसी भी कार्य के प्रारम्भ में और भी किन्हीं क्रियाओं के आदि में आचार्यों की इच्छा के अनुसार पूछकर कार्य करना। अथवा प्रणाम विनयपूर्वक सभी विषय में गुरु से पूछकर कार्य करना होता है। तात्पर्य यह है आगन्तुक मुनि पहले जैसे अपने संघ में चर्या आदि कार्यों में विनयपूर्वक अपने आचार्य से पूछकर कार्य करते थे, उसीप्रकार से उसे पर संघ में-यहाँ पर स्थित आचार्य के अभिप्रायानुसार उनसे आज्ञा लेकर ही इन सब क्रियाओं को करना चाहिए।

**174 - गाथार्थ -** पर-गण में क्षीणशक्तिक, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नपूर्वक यथायोग्य वैयावृत्ति करना चाहिए।

**175 - गाथार्थ-दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण** क्रियाओं में गुरुवन्दना और देववन्दना आदि में साथ ही मिलकर करना चाहिए।

**176 - गाथार्थ -** मन, वचन और काय के योगों से जिस संघ में अपराध उत्पन्न हुआ है, मिथ्याकार करके वहीं उसको दूर करना होता है।

**177 - गाथार्थ -** आर्थिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए, उसीप्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न (17) हरित्यागव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर :- वस्तुतः “हरित्याग” नामक कोई व्रत नहीं है। हाँ, सचित्त-त्याग-प्रतिमा नामक पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक की पाँचवी प्रतिमा है। इस प्रतिमा के पहले और भी चार प्रतिमा का पालन करना होता है। यथा— (1) दर्शनप्रतिमा (सत्य स्वरूप में विश्वास की निष्ठा तथा ज्ञान वैराग्य शक्ति से युक्त) (2) व्रत प्रतिमा ( 5 अणुव्रत तथा सात शीलब्रतों का पालन) (3) सामाधिक प्रतिमा ( साम्यभाव की साधना के लिए तीनों संध्या में साधना करना) (4) प्रोषधोपवास प्रतिमा ( पर्व दिनों में उपवास पूर्वक धर्माराधना करना) इन व्रतों ( प्रतिमा ) के पालन पूर्वक आध्यात्मिक उन्नति के लिए सचित्तविरत प्रतिमादि को पालन करता है। सचित्तविरत प्रतिमा का स्वरूप रल्करण्ड श्रावकचार में निम्न प्रकार से कहा है।

“मूलफलशाकशारखाकरीर कन्द प्रसून बीजानि ।  
नामानि योऽति सोऽयं सवित्तविरतो दयामर्ति ॥२०॥”

मूली, गाजर, शकरकन्द, आदि मूल कहलाते हैं, आम, अमरुद आदि फल कहलाते हैं, भाजी को शाक कहते हैं, वृक्ष की नई कोपल को शाखा कहते हैं, बांस के अंकुर को करीर कहते हैं। जमीन में रहने वाले अंगीठा (स्कन्द) आदि को कन्द कहते हैं गोभी आदि के फूल को प्रसून कहते हैं और गेहूँ, चना आदि को बीज कहते हैं ये सब आम अपक्व अवस्था में सचित सजीव होते हैं। अतः दया का धारक श्रावक इन्हें नहीं खाता है। गेहूँ चना आदि बीज हरी अवस्था में तो सचित हैं ही, परन्तु अंकुरोत्पादन की शक्ति की अपेक्षा शुष्क अवस्था में भी सचित माने जाते हैं अतः ब्रती मनष्य इन्हें खण्डित अवस्था में ही खाता है।

इस श्लोक में जो मूल आदि वनस्पतियाँ गिनाई गई हैं वे उनकी जातियाँ बतलाने के अभिप्राय से गिनाई गई हैं। ये सभी भक्ष्य हैं यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उनमें मूल, कन्द तथा प्रसून स्पष्ट ही बहुधात तथा त्रसधात का कारण होने से अभक्ष्य है। अतः इनका त्याग भोगोपभोग परिमाण व्रत में कराया जा चुका है। यहाँ इनका “अपक्व” अवस्था में त्याग बताया है। इसलिए पक्व अवस्था में ये ग्राह्य हैं, ऐसा फलितार्थ लगाकर व्रती मनष्य को इनके सेवन में

प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। इस प्रसंग में स्वतः स्वभाव से सूखी हुई सोंठ तथा हल्दी आदि का दृष्टान्त देना संगत नहीं है क्योंकि उनका उपयोग औषध के रूप में जब कभी होता है अतः रागांश की तीव्रता नहीं रहती और अचित्त भी है, परंतु मूली, गाजर, आलू, अदरक आदि के सेवन में स्पष्ट ही राग की तीव्रता रहती है, जो कि व्रती मनुष्य के लिए त्याज्य है क्योंकि सप्रतिष्ठित है। फल, शाक, शाखा आदि जो भक्ष्य बनस्पतियाँ हैं उन्हें छिन-भिन्न या अग्नि सिन्धु करके लिया जा सकता है। यद्यपि छिन-भिन्नादि करने में दयामूर्तित्व का विघात होता है तथापि इस प्रतिमा में इतनी सूक्ष्मता का विचार नहीं होता है।

प्रासुक या अचित्त द्रव्य का लक्षण पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार से कहा है –  
सुकं पवकं तत्त्वं विल लवणेण मिस्सियं दद्वन् ।

जं जंतेण य हिण्णं तं सवं फासयं भणियं।

सूर्य की धूपादि से सुखाया गया हो, अग्नि से पकाया गया हो, अग्नि से तपाया गया हो, भूना गया हो, गरम किया गया हो, खटाई-नमक मिला हुआ हो, चाकू, मिस्स-कोल्लू, यंत्रादि से छिन-भिन्न किया गया हो, वह सब द्रव्य प्रासुक, अचित्त, जीवरहित, (हरी नहीं है) हैं। ऐसा प्रासुक भक्ष्य भोजन सचित्त विरत प्रतिमाधारी से लेकर क्षुल्लक, आर्थिका, मुनि तक ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु विशेष ध्यान से देने योग्य विषय यह है कि प्रथम प्रतिमा से लेकर सप्तम प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी व्रती तक के श्रावक तो सचित्त वस्तु को स्वयं अचित्त करके भोजन कर सकता है परन्तु क्षुल्लकादि उच्चतम श्रावक तथा आर्थिका, मुनि आदि सचित्त को उपर्युक्त उपायों से अचित्त नहीं कर सकते हैं। सचित्त विरत प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए कहा है—

भक्षणेऽत्र सवित्तस्य नियमो न त् स्पर्शनम्।

तत्त्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजनम् ॥ ला.सं.

इस प्रतिमा में सचित्त भोजन का तो त्याग होता है परन्तु स्वहस्त में सचित्त को अचित्त करके भोजन कर सकता है।

परन्तु वर्तमान में अधिकांश व्यक्ति अक्रम से विवेक रहित, रुढ़ि परम्परा से “हरीत्याग” करते हैं। कुछ लोग तो दिनरात भक्ष्यभक्ष्य भक्षण करते रहेंगे परन्तु केवल अष्टमी एवं चतुर्दशी को हरीत्याग का ढोंग रचायेंगे। अनन्त एकेन्द्रियों

## ॥ अथ वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष ॥

के पिण्ड स्वरूप आलू, प्याज, लहसून, अदरक, गाजर, रतालू तथा त्रसों के पिण्ड स्वरूप अनेक दिनों के अचार, मुरब्बा, पापड़, मंगोडी, बडा, दहीबाडादि तो खाते रहेंगे परन्तु पूर्वोक्त आगमोक्त रीति से अचित्त सेव, केला, अंगुर, आदि फल तथा पकी हुई उबाली हुई तुरई, गल्की, परवल टिडीसि, करेलादि की सब्जी, (शाक) को हरीमानकर त्याग करेंगे। ऐसे व्यक्ति भी हरीत्याग के दिन में कच्चा पानी और कोई कोई तो बिना छने हुआ पानी या अमर्यादित पानी तक पीते रहेंगे। उन्हें ज्ञानतक नहीं होता है बिना प्रासुक किये हुए कच्चे पानी के एक ग्लास में असंख्यात एकेन्द्रिय जलकायिक जीव होते हैं। यदि वह पानी बिना छना हुआ है अथवा छानने के बाद भी 48 मिनिट से अधिक समय हो गया है तो मर्यादा से अधिक होने के कारण उसमें असंख्यात एकेन्द्रिय जलकायिक जीवों के साथ-साथ लाखों -करोड़ों त्रस जीव भी होते हैं। उपरोक्त दोनों अवस्थाओं में पानी सचित्त है।

मान लो कि कोई यदि सचित्त प्रत्येक फल भी खा लेता है तो भी एक ही जीव के कुछ ही सचित्त प्रदेश को खायेगा किन्तु पूर्ण एक जीव नहीं खायेगा। परन्तु उपर्युक्त सचित्त पानी आदि का सेवन करेगा तो असंख्यात या अनंत जीवों को खा लेगा।

एक और विचारणीय विषय यह है कि यदि कोई अचित्त किया हुआ फल सब्जी खाता है और कोई रोटी, भात, दाल खाता है, तो फल, सब्जी खाने वाला कम हिंसक होगा और भात दाल, रोटी खाने वाला अधिक हिंसक होगा, क्योंकि फल और सब्जी का आकार बड़ा (घनफल अधिक) होने से 10-20 फल से पेट भर सकता है। और यदि कोई अनाज से पेट भरना चाहे तो 1000-2000 बीज से पेट भरेगा। फल और सब्जी से यदि बीज को निकाल दिया जाता तो गुदा वाला भाग पूर्ण अचित्त- निर्जीव, पुद्गल हो जाता है जिससे कम हिंसा होगी परन्तु तीन वर्ष के पहले -पहले का बीज तो योनिभूत जीव होता है उसे अचित्त करन से योनिभूत जीव को मारने की हिंसा तो लगेगी ही।

उपर्युक्त धार्मिक विवेचन के साथ-साथ आयुर्वेदिक एवं स्वास्थ्य विज्ञान संबंधी विषय भी विचारणीय है। अनाज से भी अधिक स्वास्थ्यप्रद एवं ब्रह्मि प्रद

## ॥ अथ वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष ॥

फल तथा सब्जियाँ हैं। इतना ही नहीं अनेक रोगों की चिकित्सा भी फल एवं सब्जी से होती है। इससे विपरीत अनेक रोगों में अनाज अपथ्य के साथ-साथ हानिकारक भी है। इतना ही नहीं फलाहार भावना को अधिक पवित्र बनाने में सहकारी कारण है। आयुर्वेद में तो इसका वर्णन है ही परन्तु आधुनिक विज्ञान में, प्राकृतिक चिकित्सा आदि में फल एवं सब्जी संबंधी नित्य नवीन चमत्कार पूर्ण शोध-बोध हो रहे हैं।

दि. जैन प्राचीन आगम में अष्टमी, चतुर्दशी को हरीत्याग (अचित्त फल, सब्जी) का वर्णन नहीं है। यह अर्वाचीन परम्परा कब से प्रारंभ हुई और क्यों प्रारंभ हुई यह भी शोध का विषय है। तथापि यह परम्परा दि. जैन आगमोक्त नहीं है और वैज्ञानिक भी नहीं है। फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि पर वस्तु को स्वीकार करना धर्म नहीं है अपितु त्याग करना धर्म है। इसलिए तो 14वें गुणस्थान के अन्तिम समय में जब पुण्य के साथ-साथ परमौदारिक शरीर का भी त्याग होता है तब जाकर मोक्ष मिलता है। उसी की साधना हेतु समाधि के समय शुद्ध भोजन के साथ-साथ पानी का भी त्याग किया जाता है।

यथाशक्ति त्याग एवं तपस्या से ही मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है, किन्तु महापाप तो जान बूझकर करते रहना और रुढ़िवशात्, देखादेखी या दिखावे के लिए अविवेक पूर्ण एक छोटा सा त्याग करके धर्मात्मा का अहंकार करना या व्यर्थ ढोंग रचाकर और भी पाप कमाना प्रशस्त नहीं है।

**प्रश्न (18)** क्या एक साधु अन्य साधु की वैयावृत्ति के लिए आहार, औषधि, वस्तिका आदि की व्यवस्था करवा सकते हैं?

**उत्तर :-** वैयावृत्ति के लिए एक साधु अन्य साधु की आहारादि की व्यवस्था करवा सकते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि समाधिस्थ, संस्तरारुढ़ क्षपक की सेवा के लिए निर्ग्रन्थ मुनि 48 (अड़तालीस) निर्यापक होते हैं नहीं तो कम से कम (2) निर्यापक तो होना ही चाहिए। ये निर्यापक समाधिस्थ मुनि की आहार संस्तरादि की व्यवस्था करते हैं। भगवती आराधना जैसे प्राचीन मुनि की समाधि सम्बन्धी आगम में इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार से पाया जाता है।  
यथा-

निर्यापक प्रिय धर्म, संवेगस्थ, पापभीरु, धीर, छंदू (क्षपक के कहे

विना अंगधेष्टा से अभिप्राय जानना) प्रतीतवान उचित प्रत्याख्यान (त्याग) के क्रम का हाता होता है। (गा 646)

कल्पाकल्प (भोजनापानादि की योग्यता) में कुशल चित्त, समाधान में उद्धमी, रहस्य, श्रृत का ज्ञाता, जिनेन्द्रागम गुरु से अच्छी तरह अनुभव किया हो, इसप्रकार 48 मुनि निर्यापक गुण के धारक क्षपक के उपकार में सावधान होते हैं (गा. 647)

आमर्शन (हाथ-पैर-कमर-कम दबाना) परिमर्शन (संपूर्ण- अंग दबाना) चक्रमण (क्षपक को चलने फिरने में सहायता देना) शयन, बैठाना, खड़ा करना। करवट बदलावाना, हाथ पाँव पसारना, संकुचित करना इत्यादि उपकार परिचायक मूनि करते हैं। (गा. 648)

क्षपक के शरीर क्रिया में जिसप्रकार संयम विनाश को प्राप्त नहीं हो उसी प्रकार क्रम से संयम में नित्य उद्यम युक्त और क्षपक को सावधान करने के इच्छुक इस प्रकार चार मुनिराज सेवा करते हुए टहल करने खड़े होते हैं। (गा. 649)

चार मुनि ग्लानि का त्यागकर उद्भमादि दोष रहित आहार के पदार्थ क्षपक के लिये लाते हैं, कितने दिन तक हम को लाना पड़ेगा ऐसा विचार वे मन में नहीं करते हैं। क्षपक जो पदार्थ चाहता है उनको वे लाते हैं। क्षपक भी जिनसे भूख और प्यास शांत होगी ऐसे ही पदार्थ चाहता है। लौल्य से आहार की इच्छा वह नहीं करता है। क्षपक के वात, पित्त और श्वेष्म को न बढ़ाने वाले पदार्थ ही परिचारक मुनि लाते हैं। परिचारक मुनियों के हृदय में मायाभाव नहीं रहता है अतः वे अयोग्य आहार को योग्य बताते नहीं। मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ही परिचारक आहार लाने के कार्य में आचार्य के द्वारा भेजे जाते हैं। जिनको भिक्षालब्धि नहीं है ऐसे मुनि इस कार्य में नियुक्त करने से क्षपक को क्लेश होगा। (गा. 662)

चार मुनि आचार्य के द्वारा नियुक्त होकर क्षपक के लिए योग्य पीने के पदार्थ लाते हैं। ( बाकी संपूर्ण अभिप्राय ऊंपर की गाथा के समान ही समझना चाहिए)

उपर्युक्त मुनियों के द्वारा लाये हुए आहार के और पान के पदार्थों का चार मुनि प्रमाद छोड़कर रक्षण करते हैं। उन पदार्थों में त्रस जीवों का प्रवेश न हो और

कोई गिरा न सकेंगे ऐसी संभाल वे करते हैं क्योंकि क्षपक का जिस प्रकार से  
धित रलत्रय में एकाग्र रहेगा वैसा ही वे प्रयत्न करते हैं। (गा. 6.64)

चार मुनि क्षपक का मलमूत्र निकालने का कार्य करते हैं तथा सूर्य के उदयकाल में और अस्त काल के समय में वस्तिका उपकरण और संस्तर इनको शुद्ध करते हैं, स्वच्छ करते हैं। (गा. 666)

चार परिचारक मुनि क्षपक की वसतिका के दरवाजे का प्रयत्न से रक्षण करते हैं अर्थात् असंयत और शिक्षकों को वे अंदर आने को मना करते हैं और चार मुनि समोशरण के द्वार का प्रयत्न से रक्षण करते हैं। धर्मोपदेश देने के मंडप के द्वार पर चार मुनि रक्षण के लिए बैठते हैं। (गा. 669)

निद्रा को जीतने की इच्छा रखने वाले चार मुनि क्षपक के पास जागरण करते रहते हैं। और जहाँ क्षपक और संघ ठहरा है उस देश की शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करने वाले चार मुनि आचार्यों के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

इस प्रकार ये माहात्म्यवान् अडतालीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्न से क्षपक को समाधि में एकाग्र करते हैं और संसार समुद्र से प्रयाण करने वाले उस क्षपक को समाधि के कार्य में अर्थात् रलत्रय में प्रयुक्त करते हैं ? ( गा. 670 )

जिनका गुण वर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं ऐसा न समझना चाहिये परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में विचित्र काल का परावर्तन हुआ करता है। इसलिये कालानुसार प्राणियों के गुणों में भी जघन्य, मध्यमता और उत्कृष्टता आती है। जिस समय जैसे शोभन गुणों का संभव रहता है उस समय वैसे गुणधारक मनि निर्यापक परिचारक समझकर ग्रहण करना चाहिये।

भरत क्षेत्र में और ऐरावतक्षेत्र में समस्त देशों में जो जैसा काल प्रवर्तता हो उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिए। अर्थात् मध्यमकाल के प्रारंभ में (44) चौबालीस निर्यापक होते हैं। (गा. 671)

इस प्रकार देशकालानुसार गुणों को यत्न से देखकर इस संक्लेश परिणाम युक्त काल में चार-चार निर्यापक कम कम करना चाहिये। वे तब तक कम करना जब वे चार रहेंगे, अर्थात् क्षपक के समाधिमरण साधने के लिए केवल देश, काल, गुण की अपेक्षा से यदि चार ही निर्यापक हो तो भी समाधिमरणरूप कार्य की समाप्ति होती है। अतिशय संक्लिष्ट काल में दो निर्यापक भी क्षपक के इस

कार्य को साध सकते हैं। परंतु जिनागम में एक निर्यापिक का किसी भी काल में उल्लेख नहीं किया है।

मूलाचार में भी गुरु के लिये शिष्य का क्या क्या कर्तव्य है? क्या विनय होता है? उसका वर्णन नीचे कर रहे हैं—

देव और गुरु के सामने नीचे खड़े होना (विनय से एक तरफ खड़े होना), गुरु के साथ चलते समय उनके बाँयें चलना या उनके पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ पाटा आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना, उनके लिये आसन देकर उन्हें बिराजने के लिये निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डल, पिच्छीका आदि उपकरण देना, वसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिये निवेदन करना। अथवा नीचे स्थान का अर्थ यह है की गुरु सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ—पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनम्रता रखना (गा. 374)।

गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना, अथवा उनके शरीर में तेल मालिश करना, उष्ण काल में शीतक्रिया शीतकाल में उष्ण क्रिया करना, और वर्षाकाल में उस ऋतु के योग्य क्रिया करना। अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनके प्रकृति के अनुकूल करना, उनके आदेश का पालन करना, उनके लिए संस्तर अर्थात् चटाई धास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक कमण्डुल आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीरके द्वारा योग्य के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है, क्योंकि वह काय के आश्रित है।

अभ्युत्थान—गुरुओं को सामने आते हुए देखकर उठकर खड़े हो जाना। सन्नति—शिर से प्रणाम करना। आसनदान—पीठ काष्ठासन, पाटा आदि देना। अनुप्रदान—पुस्तक, पिच्छका आदि उपकरण देना, प्रतिरूप क्रिया कर्म यथायोग्य—श्रुत भक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करके वन्दना करना, अथवा गुरुओं के शरीर की प्रकृति के अनुरूप काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा सुश्रुषा आदि

क्रियाएँ करना, जैसे कि शीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि। आसन त्याग - गुरु के समान उच्चस्थान पर नहीं बैठना। अनुब्रजन उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना। इसप्रकार से (1) अभ्युत्थान (2) सन्ति, (3) आसनदान (4) अनुप्रदान, (5) प्रतिरूपक्रिया कर्म, (6) आसनत्याग और (7) अनुब्रजन ये सात प्रकार कायिकविनय के होते हैं।

गुणाधिये उवज्ञाए तवसिस सिस्से य दब्ले।

साहुगण कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥ (गाथा - 390 मूलाचार)

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर ये पाँच हैं। नव दीक्षित को बाल कहते हैं। वृद्ध से वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और गुणों से वृद्ध लिये गये हैं। सात पुरुष की परम्परा को अर्थात् सात पीढ़ी को गच्छ कहते हैं। इन आचार्य आदि पाँच प्रकार के साधुओं की तथा बाल, वृद्ध से व्याप्त ऐसे संघ की आगम में कथित प्रकार से सर्वशक्ति से वैयावृत्ति करना चाहिए। अर्थात् अपनी सर्व सामर्थ्य से उपकरण, आहार, औषधि पुस्तक आदि से इनका उपकार करना चाहिए।

ਸੇਜ਼ਯੋਗ ਸਾਥਿਨ ਸੇਜ਼ਯੋਗ ਤਹਾਂ ਵਹਿਧਿ ਲੇਣਾ ਹਿ ਤਰਗਹਿਦੇ।

**आहारोसहवायण विक्षिप्तं वंदणादीहि ॥ (गा. 391 मुलायार)**

शव्यावकाश मुनियों को वसतिका का दान देना, निषधा-मुनियों को आसन आदि आदि देना, उपधि-कमण्डुल आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन-पिच्छिका आदि देना, इन कार्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए, अथवा इनके द्वारा उपकार करके उन्हें स्वीकार करना आहारचर्या द्वारा, सोंठ, पीपल, आदि औषधि द्वारा शास्त्र-व्याख्यान द्वारा, कदाचित् मल-मूत्र आदि च्युत होने पर उसे दूर करने के द्वारा और बन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि वसतिका दान, आसनदान, उपकरणदान, प्रतिलेखन आदि के द्वारा पूर्वोक्त साधुओं का उपकार करना चाहिए। इन उपकारों से वे अपने किये जाते हैं। उपर्युक्त विनय, वैयावृत्ति करने का फल निम्नोक्त है—

विणएण विष्वीणस्स हवदि सिकवा पिरतिथ्या सबा।

विणओ सिकत्वाए फलं विणयफलं सत्पकल्लाणं ॥ 385 ॥

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक हैं, विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है।

**विणओ मोकरवद्धारं विणयादो संज्मो तगो णाणं ।**

**विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सब्बसंघो य ॥ (ग. 386)**

विनय मोक्ष का द्वारा है। विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है। विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आराधित होता है।

**आयारजीदकप्पगुणदीवणा अतसोधिए पिज्जंजा ।**

**अज्जवमद्वलाहव भर्तीपल्हादकरणं च ॥ 387 ॥**

विनय से आचार, जीद कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है तथा आत्मशुद्धि, निर्द्वदता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आह्लादगुण प्रकट होते हैं।

**किर्ती मित्ती माणसस भंजण गुरुजणे य बहुमाणं ।**

**तिथ्यराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥ 388 ॥**

कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुओं में बहुमान, तीर्थकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं।

**आइरियदिसु पंचसु सबालवुइडातलेसु गल्लेसु ।**

**वैज्ञावच्चं गुरुं काहवं सब्बसतीए ॥ ( 389 )**

आचार्यादि पाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्य को कहा है। सो सर्वशक्ति से अर्थात् आहार, औषधि उपकरण पुस्तकादि से करना चाहिए।

जो साधुओं की सेवा करते हैं वे साक्षात् धर्म की सेवा करते हैं। क्योंकि साधु ही जीवन्त, चलते, फिरते धर्म हैं, तीर्थ मूर्ति हैं, मन्दिर हैं। पंचोपरमेष्ठिओं में अरिहंत और सिद्ध की तो कोई सेवा, वैयावृत्ति ( आहार-औषधि-ज्ञान-वस्तिका आदि दान तथा शरीर की मालिश आदि) की आवश्यकता नहीं है। केवल उनके समान आदर्श बनने के लिए उनके गुण-स्मरण, गुणानुराग, गुणानुचरण की आवश्यकता है। इसी प्रकार नवदेवता ( पचंपरमेष्ठी, चैत्य, चैत्यालय, जिनधर्म, जिनागम ) में भी वर्तमान में साक्षात् जीवन्त देवता तो तीन देवता ( आचार्य, उपाध्याय, साधु ) हैं जिनके लिए भोजन, औषधि, सुश्रुषा की आवश्यकता है। ये ही साधु, साधक ही आगे जाकर साध्य, अरिहंत, सिद्ध बनेंगे और अरिहंत की

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

दिव्य देशना ही जिनागम है, उनकी मूर्ति ( Idol ) ही चैत्य है, चैत्य का आलय ही चैत्यालय है तथा उनका स्वरूप ही जिनधर्म है। इसलिए तो कुन्दकुन्द देव ने अष्टपाहुङ में साधु-त्रमण को ही निश्चय से नवदेवता कहा है और मूर्ति, मन्दिरादि को व्यवहार से देवता कहा है। अतएव सिद्ध होता है कि मूर्ति मन्दिर, तीर्थक्षेत्रादि, प्रतिकृति, प्रतिमा, मूर्ति, ( Idol ) है तो साधु स्वयं मूर्तिमान, प्रतिमान, आदर्श ( Ideal ) है। जिसने साधु की सेवा की, उसने नव देवता की भी सेवा की सेवन किया परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है जो स्वयं साधुओं की सेवा तक नहीं करता है वह भी जब एक साधु धार्मिक भाव से आगमोक्त प्रणाली से भी दूसरे साधु की सेवा करता है तो उसको खराब मानता है, निन्दा करता है, दूसरों को भीड़ाकर, भटकाकर साधुओं से घृणा करवाता है। इस प्रकरण का विशेष वर्णन मैंने इसी पुस्तक के गुरुपास्ति ( साधु सेवा ) प्रकरण में तथा 'पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी' मैंने किया है। विशेष जिज्ञासु वहाँ से अध्ययन करें।

प्र. ( 19 ) वर्तमान काल में अच्छे - अच्छे युवा साधु-साधिव्यों को अधिक अन्तराय क्यों आता है और वे अस्वस्थ भी क्यों रहते हैं ?

उत्तर :- एक कार्य के अनेक कारक, कारण होते हैं। वर्तमान के अच्छे-अच्छे युवा साधु के अन्तराय एवं अस्वस्थ होने के भी अनेक कारण हैं। यथा-

( 1 ) अस्वस्थ होने के मूलकारण कर्म सिद्धान्तानुसार पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म का उदय है।

( 2 ) अन्तराय आने का मूल कारण अन्तराय कर्म का उदय है।

( 3 ) यह भी संभव है कि त्याग, तपस्या, साधना के कारण पाप कर्म की शीघ्र उदीरण होती हो जिसके कारण अन्तराय एवं अस्वस्थ होना संभव है। जैसा कि गंदे कपड़े में अच्छा साबुन लगाने से गंदगी शीघ्र निकलती है।

( 4 ) युवा साधु की दृष्टि-शक्ति अच्छी होने के कारण छोटी-छोटी अन्तराय की वस्तु भी दिखाई देती है, जिससे कि उनके अन्तराय ज्यादा होते हैं।

( 5 ) अधिक अन्तराय के कारण पर्याप्त भोजन एवं पानी नहीं मिलता है जिससे कि पर्याप्त तत्त्व, कैलोरी, ऊर्जा नहीं मिल पाती है। इससे भी शरीर दुर्बल, प्रतिरोधक शक्ति से हीन हो जाता है। पानी की कमी से शरीर में गरमी ( पित्त ) बढ़ जाते हैं और जिससे वान्ति, पित्त विकार, अलसर, हैजा, जंभाई,

चक्कर आना, पेट दर्द, ओंठ सखना, आँखें जलना आदि रोग हो जाते हैं।

(6) युवावस्था में शरीर की चयापचय की क्रिया अधिक होती है जिससे भूख अधिक लगती है, परन्तु साधु एक बार ही भोजन, पानी ग्रहण करते हैं, और उसमें भी अनेक उपवास एवं अन्तराय होते रहते हैं। इतना ही नहीं कभी-कभी तो स्व-प्रकृति एवं भूख प्यास के अनुसार उन्हें कभी भोजन मिलता है तो और कभी मिलता भी नहीं है। कुछ साधु तो स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शक्ति, आयु, कार्य को बिना देखे दूसरों की देखादेखी से या रुढ़ी से दूध, घी, शक्कर आदि रस, फल, सब्जी आदि का त्याग करते हैं, उपवास करते हैं और कभी-कभी श्रावक भी बिना विवेक से सूखा, रुखा, अधजला, अधपका, बेरस, यद्वातद्वा भोजन बिना क्रम, बिनाभावना से अंजली में डाल देते हैं। वह भी कभी पूर्ण उदर तो कभी अपूर्ण उदर। इससे भी वात, पित्त, कफ कुपित होकर अनेक रोग पैदा कर लेते हैं। विशेष जिज्ञासु मेरे द्वारा लिखित 'धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान' I, II 'आदर्श विचार, विहार-आहार' एवं 'उपवास का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विशेषण' ग्रंथ का अध्ययन करें।

(7) अधिकांश नवयुवक साधु-साध्वी अधिक अध्ययन-अध्यापन, लेखन, प्रवचन करते हैं। इससे मानसिक एवं शारीरिक श्रम भी बहुत होता है। उसके योग्य भोजन, वस्तिका, औषधि की व्यवस्था नहीं हो पाती है जिससे श्रम दर नहीं होता है। और क्षतिपूर्ति भी नहीं हो पाती है।

(8) कम आयु वाले साधुओं के शरीर भी कोमल रहते हैं विकासोन्मुख रहते हैं जिससे भोजन, पानी, वातावरण से शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं।

(9) कुछ नये साधु भी दीर्घ अनुभव के बिना भावुकता से देखा-देखी करके तप-त्याग करते हैं जिसके कारण उन्हें 'देखा-देखी साथे योग छीजे काया वाढ़े रोग' हो जाता है। "वे नया मुल्ला अल्ला—अल्ला ज्यादा चिल्लाता हैं" को भी चरितार्थ करते हैं।

(10) जो साधु स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं करते हैं, आयुष्रृति, ऋतु के अनुकूल आहार-विहार नहीं करते हैं उन्हें भी अधिक रोग होने की संभावना रहती है। जैसे कि विपरीत भोजन, गन्दे वातावरण में रहना, गन्दे स्थान में मल-मत्र त्याग करना। मलमत्र त्याग करने के लिए प्रातःकाल में

भी योग्य वातावरण रहते हुए भी दूर नहीं जाना। दूर मल-त्याग से तो एक प्रतिष्ठापन समिति का पालन होता है और द्वितीयतः प्रातःकालीन भ्रमण सम्बन्धी लाभ यथा—स्वच्छ प्राणवायु का मिलना, पूर्ण शरीर का व्यायाम होना, शरीर एवं मन में स्फुर्ति आना, हजम—शक्ति बढ़ना, प्राकृतिक एक्युप्रेशर होना आदि।

(11) कैशलोंच करना, गर्भ में नंगे पैर तथा नंगे शरीर विहार करना वह भी उपवास, अन्तराय अपर्याप्त भोजन पानी से। इसी प्रकार सर्वी में भी।

(12) रोग के कारण यदि कोई साधु उत्सर्ग एवं अपवाद को दृष्टि में रखकर, अशक्यानुष्ठान में कुछ औषधि, पथ्य-भोजन सेवन करता है और प्रायश्चित्त भी करता है तथापि उसकी निन्दा दूसरे करते हैं जिससे उपचार भी नहीं हो पाता है।

(13) कुछ संघ में साधुओं की सेवा, चिकित्सा भी व्यवस्थित नहीं होती है, उनसे अक्रम से रसादि त्याग कराते हैं, उपवास दिलाते हैं जिससे भी साध-अस्वस्थ्य होते हैं।

(14) साधु नग्नशरीर रहते हैं, मच्छरदानी आदि का प्रयोग नहीं करते हैं, इसलिए मच्छरादि रोग कारक विषाक्त कीट पतंग काटते हैं जिससे रोग होने की संभावना अधिक रहती है।

(15) साधु आहार के समय ही शुद्ध आयुर्वेदिक औषधि का भक्षण कर सकते हैं अन्य समय में नहीं। जितने बार औषधि लेने का नियम है उतने बार नहीं ले सकते हैं। कुछ औषधों को आहार में जो 1-2 घण्टा पहले या 1-2 घण्टा बाद में लेने का विधान होता है तथापि साधु को आहार के समय में ही लेना पड़ता है। जिससे औषधि का प्रभाव भी सही नहीं पड़ता है। कभी-कभी तो कुछ विपरीत भी पड़ सकता है।

(16) अभी ही नहीं चतुर्थकाल में भी कुछ महामुनिश्वरों को भी रोग हो जाता था। जैसाकि मुनि सनतकुमार (गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती राजा) को कुष्ट रोग, मुनि आर्यनन्दी को भष्मक रोग तथा पंचमकाल के प्रारंभ काल में होने वाले आचार्य समन्तभद्र को भी भस्मक रोग हो गया था। क्योंकि कर्म का उदय हर काल में रहता ही है।

(17) “श्रीयांसिबहुविज्ञानि भवत्यपि महत्यपि” अर्थात् महान् व्यक्तियों

के अच्छे कार्य में भी बहुविज्ञ आते रहते हैं। वे उन विज्ञों के साथ संघर्ष करके स्वयं में और भी सहिष्णुता, गंभीरता, निर्माहिता, वैराग्यता, स्थितप्रज्ञतादि गुणों की वृद्धि करते हैं।

प्रश्न (20) क्या अभक्ष भक्षण करने वाला ही दोषी है? निर्माण तथा विक्रय करने वाला दोषी नहीं है?

उत्तर :— मांस, मध्य, अफीम, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, पानमसाला, हिंसात्मक वस्तु यथा चर्म के जूते, चप्पल, बेल्ट, पर्स, रेशमी—वस्त्र, हिंसा से निर्भित नेलपालिस, लिपस्टिक, स्नो, पावडर, इत्र, बिस्कूट आदि का सेवन, निर्माण, क्रय—विक्रयादि से समान दोष लगता है। इसीप्रकार मध्य सेवन से जो दोष लगता है वही दोष अफीम, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट पानमसाला के सेवन, उत्पादन, निर्माण, क्रय—विक्रयादि से लगता है। इनका निर्माण, भक्षणादि पर्ण हिंसा—पाप ही है। कहा है—

मध्यं मासं क्षोद्रं पंचोदुम्बरफलानि यत्नेन।  
हिंसाव्यपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेरु ॥ 61 ॥

हिंसा त्याग करने की कामना वाले पुरुषों द्वारा सबसे पहले यत्पूर्वक, शराब, मांस, शहद, और उदम्भर फल छोड़ने योग्य हैं।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचितस्त् विस्मरश्चति धम-

विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति ॥ 62 ॥

मंदिरा (शराब) मन को मोहित करती है और मोहित चित्त पुरुष धर्म को भूल जाता है या धर्म को भूला हुआ जीव निःडर होकर भी हिंसा का आचरण करता है। अर्थात् बेधड़क हिंसा (पाप) करने लगता है।

रसजानां य बहनां जीवनां योनिरिष्यते मध्यं।

ਮਧੁ ਭਜਤਾਂ ਤੈਸ਼ਾਂ ਹਿਸਾ ਸੰਜਾਇਤੇਕਥਿਸ ॥ 63 ॥

और मदिरा बहुत से रस से उत्पन्न हुए जीवों की योनि (उत्पत्ति स्थान) कही जाती है। इसलिए मदिरा का सेवन करने वालों से उन जीवों की हिंसा अवश्य होती है।

अभिमानभयजगप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या ।

हिसायाः पर्यायाः, सर्वैऽपि च सरक्षन्ति हिता ॥ 64 ॥

A decorative horizontal border consisting of a repeating pattern of stylized floral or scroll-like motifs, rendered in a dark blue-grey color.

और घमण्ड, डर, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध, आदि हिंसा के पर्याय (भेद) होते हैं। और ये सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं (सहचर हैं) अर्थात् मदिरा पीने वालों में ये सब दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

न विना प्राणविधातान्मांसेस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ॥

मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ 65 ॥

क्योंकि प्राणी के घात किये बिना मांस की उत्पत्ति नहीं कही जाती है। इसलिए मांस को खाने वाले को अनिवार्य हिंसा फैलती है।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मतस्य महिषवृषभादेः।

तत्रापि भवति हिसा तदाश्रितनिगोतनिर्मधनात् ॥६६॥

यद्यपि प्रगट में अपने आप से ही मरे हुए भैंस बैलादिकों का मांस होता है, किन्तु वहाँ भी अर्थात् उक्त मांस के भक्षण में भी उस मांस के आश्रित रहने वाले निगोदिया जीवों के मरने से हिंसा होती है। बहुत से बौद्धादि लोगों का कहना है कि जीव को मारकर मांस खाना पाप है पर स्वयं मरे हुए के मांस खाने में कोई पाप नहीं, उनका खण्डन भी हो गया है क्योंकि उसमें भी निगोदिया जीवों की हिंसा तो होती है।

आमास्वपि पक्षास्वपि विपच्चमानास् मांसपेशीष ।

सातत्येनोत्पादस्ताज्जातीनां निगोतानाम् ॥ 67 ॥

कच्ची, पकी हुई, तथा पकते हुए मांस की डलियों में उसी जाति के निगोदिया जीवों का निरन्तर ही उत्पाद होता रहता है।

आमां वा पक्षा वा खादति य स्पृशति पिशितपेशी ।

स निहनि सततनिधितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ 68 ॥

इसलिये जो जीव कच्छी अथवा पकी हुई मांस की डली को खाता है अथवा छूता भी है, वह निरन्तर एकत्रित हुए बहुत जीव समूहों के पिण्ड को हनता है (नाश करता है।)

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।

जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धयिः ॥ 74 ॥

अनिष्ट, दुस्तर, और पापों के स्थान इन आठ पदार्थों को छोड़कर निर्मल

57

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात्

बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

तम्बाकू और उससे निर्मित वस्तु भी मद्य के समान नशीली होने के साथ-साथ हिंसात्मक हैं। मैंने स्वयं देखा है कि एक पत्ती की रक्षा के लिए हजारों कीड़ों को विषाक्त रसायन छिटकाकर मारते हैं। इससे जीवों की हिंसा के साथ-साथ विषाक्त रसायन के कारण उस पत्ती के साथ-साथ, वायु, मृदा, जलादि भी विषाक्त हो जाते हैं। मद्य में जिसप्रकार मादक गुण है उसी प्रकार तम्बाकू में भी मादक गुण है। जिसप्रकार मद्य में एलकोहल विष होता है उसीप्रकार तम्बाकू में भी निकोटिन आदि अनेक विष होते हैं। जिसके सेवन करने वालों को तो अनेक रोग होते हैं साथ-साथ दूसरों को भी अनेक रोग हो जाते हैं। जिसप्रकार मांस के लिए जीवों को मारने वाला हिंसक है और मांस को पकाने वाला, परसोने वाला बेचने वाला, खाने वालादि भी दोषी है उसी प्रकार चर्म निर्मित वस्तु, रेशमी वस्त्र, नेलपालिश आदि में भी जान लेना चाहिए।

और भी गहराई से व्यापक दृष्टि से विचार करने से ज्ञात होता है कि खाने वाले से भी उत्पादन, निर्माण, क्रय-विक्रय करने वाला अधिक हिंसक, पापी, दोषी है। क्योंकि जैसे कि विष-पान से स्वयं मरेगा परन्तु दूसरे नहीं मरेंगे परन्तु विष पिलाने से अनेक व्यक्तियों को मार देगा। इसी प्रकार मांस खाने वाला, मद्य या तम्बाकू सेवन करने वाला तो स्वयं हिंसक, दोषी बनेगा परन्तु उत्पादन, विक्रयादि करने वाला अनेकों को हिंसक, पापी बना देता है।

इसलिए तो आगम में कहा है कि न स्वयं मांसादि का सेवन करो, न कराओ न अनुमोदित करो और वह भी मन से, वचन से तथा काय से। राजा वसु केवल हिंसा की अनुमोदना से सप्तम नरक गया।

परन्तु वर्तमान में देखने में आता है कि जैनी लोग तो उपर्युक्त वस्तु प्रायः स्वयं कष्य सेवन करते हैं, परिवार के लोगों को भी सेवन करने से मना करते हैं परन्तु उत्पादन करना, बेचनादि काम खूब करते हैं, जो कि अत्यन्त गर्हित, हास्यास्पद, हिंसात्मक है। विशेष जिज्ञासु मेरी 'व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण' तथा 'ये कैसे धर्मात्मा निर्व्यसनी राष्ट्रसेवी' का अध्ययन करें।

### क्षपक के अन्तिम संस्कार

प्रश्न (21) क्षपक के मृतशरीर को अग्नि-संस्कार करने का विधान

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात्

क्या आगमोक्त है?

उत्तर :— आगम में क्षपक के मृतशरीर का अग्निसंस्कार करने का विधान नहीं है। भगवती आराधना में विसर्जन करने का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है। यथा—

क्षपक के मृत शरीर को मुनिजन दूर करें।

एवं कालगदस्तु दु सरीरमतोबहिञ्ज वाहि वा।

विज्जावच्चकरा तं सयं विकिर्चंति जदणाए

॥ 1966 ॥ पृ. 1734

जो क्षपक लोकांतर को प्राप्त हुआ है अर्थात् मर गया है तब वैयावृत्ति करने वाले मुनि उसका शरीर जो कि नगरादि में अथवा बाहर वसतिका में पड़ा रहता है और उसे आगे कहे हुए प्रयत्न से ले जाते हैं, अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त सन्न्यास विधि से जो क्षपक सम्यक्त्वादिक चार आराधनाओं की निस्तरण पर्यन्त प्राप्त कर पवित्र हुआ है। वह नगरादि के बीच में अथवा बाहर जब मरण करता है तब वैयावृत्ति करने वाले मुनिगण उसके शव को बड़े प्रयत्न से स्वयमेव ले जाते हैं।

### श्रमणों का स्थिति कल्प

समणाणं लिदिक्षणो वासावासे तहेव उद्बुंधे।

पडिलिहिदवा णिसीहिया सब्बसाधूहि ॥ 1967 ॥

चातुर्मासिक योग के प्रारंभकाल में तथा ऋतुप्रारंभ में जहाँ आराधक के शरीर का स्थापन किया है उस स्थान की प्रतिलेखना सर्व साधुओं को नियम से करनी चाहिए अर्थात् उस स्थान का दर्शन करना चाहिए, पीछी से उसको स्वच्छ करना चाहिए, ऐसा यह मुनियों का स्थित-कल्प है।

### निषिधी का लक्षण

एंगंता सालोगा णादिविकिहा ण चावि आसणा।

तितिण्णा विज्ञता णिसीहिया दूरमागढा ॥ 1998 ॥

निषिधिका एकांतप्रदेश में अन्य जनों को दिखाई न दे ऐसे प्रदेश में हो, प्रकाश सहित होनी चाहिए, वह नगरादिकों से अतिदूर न हो, न अति समीप भी हो, वह दूटी हुई, विघ्वस्त की गई ऐसी न हो वह विस्तीर्ण प्रासुक और दृढ़ होनी चाहिए।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात्

ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

### प्रशस्त निषिधिका तथा दिशा

अभिसुआ असुसिरा अधसा उज्जोगा बहुसमा य असिणिद्धा ।  
णिजंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणावाधा ॥ 1969 ॥  
जा अवरदक्षिणाए व दक्षिणाए व अध व अवराए ।  
तसधीदो गणिञ्जज्ञदि णिसीधिया सा पसरथति ॥ 1970 ॥

वह निषिधिका चीटियों से रहित, छिंद्रों से रहित होनी चाहिए, घिसी हुई नहीं होना चाहिए, प्रकाश सहित हो, समान भूमि के स्थान पर हो। निर्जन्तुक बाधा रहित हो, गीली तथा इधर उधर हिलने वाली नहीं हो, वह निषिधिका क्षपक की वसतिका से नैऋत्य दिशा में, दक्षिण दिशा में अथवा पश्चिम दिशा में होनी चाहिए, ऐसी इन दिशाओं में निषिधिका की रचना करना पूर्व आचार्यों ने प्रशस्त माना है।

### उत्तम दिशा से संघ को लाभ

सबसमाधि पठमाए दक्षिणाए दु भत्तंगं सुलभं ।

अवराए सुहविहारो होदि य उवधिसं लाभी य ॥ 1971 ॥

नैऋत्य दिशा की निषिधिका का सर्व संघ के समाधि के लिए कारण हो जाती है, अर्थात् इस दिशा की निषिधिका संघ का हित करने वाली होती है, दक्षिण दिशा की निषिधिका से आहार सुलभता से संघ को मिलता है, पश्चिम दिशा में निषिधिका होने से संघ का सुख से विहार होता रहेगा और उनको पुस्तकादिक उपकरणों का लाभ होता रहेगा।

### उक्त दिशा के अभाव में

जदि तेसि गाधादो दह्ला पुल्दक्षिणा होइ ।

अवरत्तरा य पुल्ला उदीचिपुल्वुतरा कमसो ॥ 1972 ॥

यदि नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशा में निषिधिका बनवाने में कुछ बाधा उपस्थित होगी तो आनेय दिशा में वायव्य दिशा में, ईशान दिशा में व उत्तर दिशा में इन दिशाओं में से जिस दिशा में सुविधा हो वहाँ बनवानी चाहिए।

### अयोग्य दिशा का कुफल

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहोय ।

भैदो य गिलाणं पिय चरिमा पुण कहुदे अण्ण ॥ 1973 ॥

ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

परन्तु इन दिशाओं की निषिधिकाओं का फल इस प्रकार क्रम से समझ लेना चाहिए, पूर्व दक्षिण दिशा में संघ में स्वर्द्धा, पश्चिमोत्तर दिशा में कलह होगा, पूर्व दिशा में संघ में फूट पड़ेगी, उत्तर दिशा में व्याधि उत्पन्न होगी, ईशान दिशा में संघ में परस्पर खींचातानी होगी। पूर्वोत्तर दिशा में निषिधिका करने से प्रथमतः पुनिमरण होगा। ऐसा इन दिशाओं का फल है।

### क्षपक के मरण पश्चात विधि

जं वैलं कालगतो भिक्षु तं वैलमेव णीहरणं ।

जगणवंधणाठेदणविधि अवेलाए कादवा ॥ 1974 ॥

जिस समय भिक्षु का मरण हुआ होगा उसी वेला में उसका प्रेत ले जाना चाहिए। यदि अवेला में मर जाने पर जागरण, बंधन अथवा छेदन करना चाहिए।

### जागरण करने योग्य मुनि

बाले बुह्डे सीसे तवसिसभीरुगिलाणए दुहिदे ।

आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्नंति जिवणिद्वा ॥ 1975 ॥

बालमुनि, वृद्धमुनि, शिक्षकमुनि, तपस्वीमुनि, भययुक्त मुनि, रोगी मुनि युधपीड़ित मुनि और आचार्य इनको वर्जकर धीर, निद्रा को जिन्होंने जीता है ऐसे मुनियों को जागरण करना चाहिए।

### मृतशरीर को बंधनादि

गीदथा कदकज्जा महावलपरवकमा महासत्ता ।

बंधन्ति य छिदंति य करवरणंगुद्धपदेसे ॥ 1976 ॥

जिन्होंने पदार्थ का सत्य रूप जाना है और क्षपक के कृत्य जिन्होंने अनेक बार किये हैं, जिनमें महाबल, पराक्रम और धैर्य है ऐसे मुनि क्षपक के हाथ और पाँव तथा अगूँठा इनका कुछ भाग बाँधते हैं अथवा छेदते हैं।

### बंधनादि न करने से दोष

जदि ग एसण कीरेज्ज विधि तो तथ देवदा कोई ।

आदाय तं कलेवरमुद्धिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ 1977 ॥

यदि यह विधि न की जाएगी तो उस मृतक शरीर में क्रीड़ा करने का व्यभाव वाला कोई भूत अथवा पिशाच प्रवेश करेगा। उस प्रेत को लेकर वह

ॐ शश शश शश शश 61 ॐ शश शश शश

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

उठेगा, भागेगा, क्रीडा करेगा। इस कार्य को देखकर बालमुनि, भीरुमुनि इनके मन में शोभ उत्पन्न होकर ये भागेंगे अथवा मरण होगा। इसलिये हाथ, पाँव, व अगृह्णा बाँधना चाहिए अथवा उनके कुछ प्रदेशों का छेदन करना चाहिए।

### वैयावृत्त्य के उपकरणों का कार्य

उवसयपिदावण्णं उवसंगहिदं तु तथ उवकरणं ।

सागारियं च दुविहं पडिहारियमपडिहारि गा ॥1978॥

क्षपक की शुश्रूषा करने के लिये जिन उपकरणों का संग्रह किया गया था उनका वर्णन वस्तिका सम्बंधी उपकरण में किया गया है। कुछ उपकरण गृहस्थों से लाये जाते थे जैसे औषध, जलपात्र, थाली वगैरह। कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं। और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते हैं। जो त्याज्य नहीं है वे गृहस्थों को वापस दिये जाते हैं। कुछ कपड़ा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है।

### आर्यिकादि के मृत शरीर की विधि

जदि विक्रवादा भृतपइण्णा अज्जाव होज्ज कालगदो ।

देउल सागारिति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥ 1979 ॥

यदि सर्वजनों को विदित ऐसी किसी आर्यिका ने अथवा क्षुल्लक ने सल्लेखना धारण कर मरण किया होगा तो उत्तम पालखी अथवा विमान में उसके शव को स्थापन कर ले जाना चाहिये। सन्यास स्थान का रक्षण करने वाली आर्यिका, गृहस्थ, मठपति, क्षुल्लक इनका मरण होने पर शिविका अथवा विमान में इनका शव आरोहण कर गृहस्थ ग्राम के बाहर ले जाते हैं।

### शव को शिविका में स्थापन

तेण परं संठानिय संथारगदं च तथं बंधिता ।

उद्भुतरकणहं गामं ततो सिरं किच्चा ॥ 1980 ॥

शिविका की रचना करने के अनन्तर बिछाने के साथ उस शव को बाँधकर शिविका में उसको सुलाना चाहिए। ग्राम के सन्मुख उसका मस्तक करना चाहिए। ग्राम के सन्मुख मस्तक करने का कारण यह है कि कदाचित् वह उठेगा तो उसका मुख ग्राम की तरफ नहीं होगा। और ग्राम की तरफ पैर करके शिविका में स्थापन करने से वह उठने पर ग्राम में प्रवेश करेगा इसलिये ग्राम की तरफ सिर करने का विधान लिखा है।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

### शव यात्रा की क्रिया

पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छति तं समादाय ।

अष्टिदमणियतंता य पिष्ठवो ते अणिभंता ॥ 1981 ॥

पूर्व के देखे हुए मार्ग से वह शव शीघ्र लेकर जाना चाहिए। रास्ते में नहीं खड़ा होना चाहिए, न पीछे लौटकर देखना ही चाहिए।

### शव के आगे जाने वालों की क्रिया

कुसुमुष्ठि धेतूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्यं ।

अष्टिदअणियतं तेण पिष्ठवो लोयणं मुच्चा ॥ 1982 ॥

उस शव के आगे एक मनुष्य मुष्ठि में कुश-दर्भ लेकर जावे, वह पीछे न देखे, न मार्ग में ठहरे।

### संस्तर का स्वरूप

तेण कुसुमुष्ठिधाराए अबोच्छिण्णाए समणिपादाए ।

संथारो कादलो सज्जाथ समो सर्गि तत्थ ॥ 1983 ॥

जिसने निषिधिका का स्थान पूर्व में देखा है। वह मनुष्य वहाँ जाकर दर्भ मुष्ठि की समान धारा से सर्वत्र सम ऐसा संस्तर करना चाहिए।

### संस्तर के लिए रेखा

जत्थण होज्ज तणाङ्गुणेहि वि तथ केसरेहि गा ।

संधरिदला लेहा सज्जाथ समा अबोच्छिण्णा ॥ 1984 ॥

यदि दर्भ तृण नहीं मिला तो प्रासुक तंडुल, मसूर की दाल इत्यादिकों के चूर्ण से कमल केशर वगैरह से मस्तक से लेकर पाँव तक समान, नहीं टूटी हुई रेखाएँ लिखनी चाहिए।

### विषम संस्तर से कुशकुन

जदि विसमो संथारो उवरि मज्जो व होज्ज हेद्वा वा ।

मरणं व गिलाणं वा गणिवसमजदीण णायवं ॥ 1985 ॥

ऊपर, मध्य में अथवा नीचे रेखाओं में यदि विषमता होगी तो वह अनिष्टसूचक है, ऊपर की रेखायें विषम होंगी तो गणी अर्थात् आचार्य का मरण अथवा व्याधि सूचित होती है मध्य की रेखा विषम होने पर ऐलाचार्य मरण

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

अथवा व्याधि सूचित होती हैं। और नीचे की रेखा विषम होने पर सामान्य यति का मरण अथवा व्याधि की सूचना मिलती है।

### ग्राम की ओर शव का सिर

जतो दिशाए गामो ततो सीसं करितु सोवधियं।  
उद्भेदकर्खणहुं वौसरिद्वं सरीरं तं ॥ 1986 ॥

जिस दिशा में ग्राम होगा उस दिशा में मस्तक कर पिंछी के साथ उस शव को उस स्थान पर रखना चाहिए। ग्राम के समुख मस्तक करने का अभिप्राय पूर्व में लिख चुके हैं।

### निषिधिका में पिंछी का स्थापन का कारण

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करितु होज्ज सुरो।  
सो वि विबुज्ज्ञादि दद्धुण सदेहं सोवधि सज्जो ॥ 1987 ॥

जिसने सम्यग्दर्शन की विराधना से मरण कर देवपर्याय पाया है वह भी पिंछी के साथ अपना देह देखकर पूर्व भव में मुनि था ऐसा जान सकेगा।

### विभिन्न नक्षत्र में समाधि के विभिन्न फल

णता भाए रिक्ते जदि कालगदो सिवं तु सक्षेप्ति ।  
एको दु समे खेते दिवद्वेषेते मरंति दुरे ॥ 1988 ॥  
सदभिसमरण अद्वा सादा असलेस जिद्व अवखरा ।  
रोहिणविसाह पुणवसु तित्तरा मञ्जिमा सेसा ॥ 1989 ॥

अल्प नक्षत्र में यदि क्षपक का मरण होगा तो वह सबको सुख दायक होगा, मध्यनक्षत्र में मरण होने से एक मुनि का मरण होगा। महा नक्षत्र पर मरण होने से दो मुनियों का मरण होता है।

जो नक्षत्र पन्दर मुहूर्त के रहते हैं उनको जघन्य मुहूर्त कहते हैं। शतभिषक, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा ज्येष्ठा इन छ नक्षत्रों में से किसी एक नक्षत्र पर अथवा उसके अंश पर यदि क्षपक का मरण होगा तो सर्वसंघ का क्षेम होता है। तीस मुहूर्त के नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। अर्थात् नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। अर्थात् 'काय' ऐसा शब्द लिखना चाहिए। संघ शांति के लिए ऐसा कार्य करना चाहिए। (क्षपक को स्थापन करने के पूर्व में प्रासुक धान्य चूर्णादिक से 'क' लिखकर उसके ऊपर क्षपक को स्थापन करना चाहिए। 'क' कार के नीचे यकार भी लिखना चाहिए। अर्हत की पूजा वगैरह से भी शांति करते हैं ऐसा मूलाराधना में उल्लेख है।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

नक्षत्र कहते हैं। उत्तर फाल्गुनी, उत्तराष्ट्रां उत्तराभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखा, छ: मुहूर्त में से किसी मुहूर्त पर अथवा उसके अंश पर क्षपक का मरण होने से और दो मुनियों का मरण होता है।

### गणरक्षार्थे क्रिया

गणरक्षतयं तद्वा तणमयपडिविवियं खु कादूण ।  
एकं तु समे खेते दिवद्वेषेते दुरे देज्ज ॥ 1990 ॥

गण के रक्षण हेतु मध्यम नक्षत्र में तृण का एक प्रतिबिंब कर रखना चाहिए तथा उत्तम नक्षत्र पर दो तृण के प्रतिबिंब करके अर्पण करना चाहिए। प्रतिबिम्ब की स्थापना।

तद्वाणसावयं चियं तिक्खुतो नविय मङ्गयपासम्मि ।  
विदियवियपिय भिक्खु कुज्जा तह विदिय तदियाणं ॥ 1991 ॥

मृतक के पास प्रतिबिंब स्थापन कर उसे मुनि के स्थान में मैंने यह दूसरा अर्पण किया है। यह चिरकाल यहाँ रहे अथवा तप करे ऐसा जोर से तीन बार उच्चारण करना चाहिए। एक का अर्पण करने में यह क्रम कहा है। मृतक के पास दो तृण प्रतिबिंब स्थापन करके दोनों के स्थान में मैंने ये दो अर्पण किये हैं। ये यहाँ चिरकाल रहे अथवा तप करे ऐसा जोर से तीन बार बोलना चाहिए।

### तृष्णाभावे काय शब्द लेखन

असदि तणे चुण्णेहि च केसरच्छारिद्वियादि चुण्णेहि ।  
काद्वापूष ककारो उवरि हिट्टा यकारो से ॥ 1992 ॥

प्रतिबिंब करने के लिए तृण नहीं होगा तो तंडुल चूर्ण, पुष्प के केसर अथवा ईटों का चूर्ण इसमें से जो कुछ प्राप्त होगा उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार लिखना चाहिए। अर्थात् 'काय' ऐसा शब्द लिखना चाहिए। संघ शांति के लिए ऐसा कार्य करना चाहिए। (क्षपक को स्थापन करने के पूर्व में प्रासुक धान्य चूर्णादिक से 'क' लिखकर उसके ऊपर क्षपक को स्थापन करना चाहिए। 'क' कार के नीचे यकार भी लिखना चाहिए। अर्हत की पूजा वगैरह से भी शांति करते हैं ऐसा मूलाराधना में उल्लेख है।



## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

भस्मीभूत शरीर को क्या पशु ले जा सकते हैं ? क्षपक का मस्तक या दंतपंक्ति पर्वत के शिखर पर क्या दिखाई पड़ सकती है ? यदि तर्क दिया जाये कि शरीर को आग के ऊपर रखने के बाद भी साबुत रह गया तब लकड़ी आदि इकट्ठा करने की क्या आवश्यकता थी ? अग्नि जलाने की क्या आवश्यकता थी ? यह सब आरंभ, समारंभ, कृत कारित, अनुमोदित करने के बाद भी यदि शरीर जैसा तैसा साबुत रह गया तो बिना यह आंभादि किये साबुत ही छोड़ देना ही अति उत्तम होता है ।

वर्तमान काल में केवल अग्नि-संस्कार से ही कार्य सम्पन्न नहीं होता है । क्षपक ने तो धर्म के लिये शरीर तक का त्याग कर दिया परन्तु दूसरे लोग (भक्षक) तो उस शरीर से धन कमाने के लिए बोली कराते हैं । उस बोली की जुगाड़ के लिये दूर-दूर सूचना दी जाती है । दूर-दूर से सेठ-साहूकार आने पर बोली का नाटक घंटों भर चलता है । बोली के निमित्त दूर-दूर से धनात्मा को बुलाने में एवं धन के बल पर (बोली) धर्म के क्रय -विक्रय में कभी-कभी घंटों या एकाध दिन की देरी हो जाती है । तब तक मृतशरीर में कितने एकेन्द्रिय से लेकर समूर्च्छन पंचेन्द्रिय तक जीव जन्म लेते हैं, यह तो सर्वज्ञ भगवान् ही साक्षात् देख सकते हैं । हम तो आगम के आधार पर ही जान सकते हैं कि अन्तमुहूर्त के बाद समूर्च्छन जीव पैदा होना प्रारंभ हो जाते हैं । पहले तो एकेन्द्रिय समूर्च्छन जीव उत्पन्न होंगे फिर समय बढ़ने से दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी समूर्च्छन जीव उत्पन्न होंगे । शायद उस शरीर में संख्यात, असंख्यात से लेकर अनन्त जीव उत्पन्न हो जायेंगे । इतना ही नहीं यदि शीघ्र (अन्तमुहूर्त के मध्य में) भी उस शव को जलाया जायेगा तो उसमें भी जो अनन्त त्रस स्थावर जीव हैं उनका धात होगा । गृहस्थ के शव संस्कार में भी देरी होने से गृहस्थ प्रायश्चित्त का भागी होता है । यथा-

तिथिगरक्षयोगेषु दुष्टेषु मरणं यदि ।

मृतस्योथापनं चैव दीर्घकालाद्भूदिदि ॥ 150 ॥ त्रैवर्णकाशार

तद्वेषपरिहारार्थं कर्ता कृत्वा प्रदक्षिणम् ।

प्रांजलिः प्रार्थ गृण्हीयात्यायश्चितं विषयितः ॥ 151 ॥

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

यथाशक्ति जिनेज्या च महायन्त्रस्य पूजनम् ।

शान्तिहोमपुतो जाप्तो महामंत्रस्य तत्त्वं वै ॥ 152 ॥

आहारस्य प्रदानं च धार्मिकाणां शतस्य वा  
तदर्थस्याथवा पंचविंशते प्रतीधीयते ॥ 153 ॥

तीर्थस्थानानि वन्द्यानि नव वा सप्त पंच वा ।

दुष्टतिथ्यादिमरणे प्रायश्चित्तमिदं भवेत् ॥ 154 ॥

दुष्ट तिथि, वार, नक्षत्र, और योगमें यदि किसी का मरण हो जाय और मृतक पुरुष को मरण के बाद बहुत देर से जलाने के लिए ले जाय तो उस दोष के परिहार के लिए कर्ता हाथ जोड़ प्रदक्षिणा देकर विद्वानों से प्रार्थना करे और प्रायश्चित्त करे, यथाशक्ति जिनभगवान् की पूजा करे, महायंत्र की पूजा करे, शान्ति विधान और होम करें, महामंत्र का जाप करे । सौ पचास किंवा पच्चीस धर्मात्माओं को आहार दान दे । नौ सात या पाँच तीर्थों की वंदना करें । यह दुष्ट तिथि आदि में मरने का प्रायश्चित्त है । ऐसी परिस्थिति में वर्तमान में जो क्षपक के शरीर की अग्नि-संस्कार क्रिया होती है, उससे करने वालों को कितना बड़ा प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा । यह विचारणीय है । जो साधु को जीवितावस्था में भी पानी तक नहीं पिलाने वाले भी कुछ लोग नाम कमाने के लिए बढ़ चढ़कर बोली लेंगे । साधु अवस्था में वसतिका की व्यवस्था नहीं करने वाले उनके नाम पर स्वनाम कमाने के लिए छतरी संस्था बनायेंगे । यह क्रिया तो 'जिन्दा बाप से लट्ठम् लट्ठा मरे हुए को पहुँचावे गंगा' के समान है या जिन्दा साप को मारना सापकी मूर्ति को दूध पिलाने के समान है । कहावत है "धर आये नाग ना पूजे बाबरु पूजन जावे" के समान है ।

प्रश्न (22) क्या साधु सोंठ हल्दी का सेवन कर सकते हैं ?

उत्तर :- जिस साधु का सोंठ, हल्दी का त्याग नहीं है वे सेवन कर सकते हैं । मूलाचार के वैयावृत्ति प्रकरण में एक साधु अन्य साधु की वैयावृत्ति किन-किन उपायों से करें इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

तथाहारौषधवाचनाव्याख्यानं विकिंचनमूलपुरीषादिव्युत्सर्गं वन्दनादिभिः ।  
आहारेण भिक्षाचर्याया । औषधेन शुंठि पिपल्यादिकेन । शास्त्र व्याख्यानेन ।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत्

च्युतमलकिर्णरणे । १

आहारचर्या द्वारा, सोंठ, पीपल आदि औषधि द्वारा, शास्त्र व्याख्यान द्वारा, कदाचित् मलमूत्र आदि च्युत होने पर उसे दूर करने द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि सोंठ आदि औषधि साधु द्वारा, साधु को दिलाया जाता है। केवल सामान्य गृहस्थों के द्वारा नहीं। यदि साधु नहीं सेवन कर सकते हैं तो एक साधु दूसरे साधु को कैसे दिला सकता है? यह सही है कि कच्ची अवस्था में हल्दी एवं अदरख सप्रतिष्ठित रहते हैं। सूख जाने के बाद अप्रतिष्ठित, शुष्क, अचित्त, काष्ठ औषधि बन जाते हैं। इसका वैज्ञानिक कारण यह हो सकता है कि इसमें जो तीक्ष्ण, चरपरा, औषधीय गुण होते हैं और सुखने के बाद गीलापन नहीं रहता है जिससे ये अप्रतिष्ठित, अचित्त, औषध बन जाते हैं। इसलिए तो जैन पुराण, चरणानुयोग, जैन आयुर्वेद, प्रतिष्ठाशास्त्र में इसके प्रयोग का विधान है। सोंठ में कफ, वात, मन्दाग्नि को दूर करने के गुण हैं तो हल्दी में खाँसी, जुकाम, दर्द दूर करने के साथ-साथ रक्त शुद्ध करने के घाव भरने के एवं रोग प्रतिशोधक शक्ति बढ़ाने के गुण हैं। यदि नित्य सब्जी में हल्दी का प्रयोग किया जायेगा तो उपर्युक्त लाभ सहजरूप में प्राप्त हो जायेगे।

**प्रश्न (23) कौन सा पंथ सच्चा है और मोक्ष का कारण है?**

**उत्तरः—** कोई भी पंथ (सम्प्रदाय) पूर्ण सच्चा नहीं है और मोक्ष का भी कारण नहीं है। केवल मोक्ष पथ ही सच्चा है और मोक्ष का कारण है। यह मोक्ष पथ आत्मा से ही प्रारंभ होता है, आत्मा में ही गुजरता है/ संचार करता है और आत्मा में ही पूर्ण/ समाप्त हो जाता है। जहाँ पूर्ण होता है वहाँ /वह ही मोक्ष है। अतः आत्मा का पथ ही मोक्ष पथ (मार्ग/ साधन/ कारण/ कारक) है और आत्मा ही मोक्ष-पथ और मोक्ष का पथिक तथा मोक्ष है। यह पथ है आत्मा सत्य की श्रद्धा, उसका ज्ञान एवं उसका आचरण। इसके लिए जो भी बाह्य साधन है वह भी यथायोग्य ग्राह्य है। परन्तु साधन से भी यदि श्रद्धा, ज्ञान, आचरण में बाधा पहुँचती है तो वह साधन भी अग्राह्य है। क्योंकि वह साधन मोक्ष मार्ग के लिए बाधक है।

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत्

अध्याय

2

समय का सार

( नामो समयसाराय )

**शास्त्राध्ययन क्रम —**

**प्रश्न :-** समयसार ग्रन्थ का अध्ययन क्या प्राथमिक व्यक्ति कर सकता है?

**उत्तर :-** प्राथमिक अवस्था में इसका अध्ययन निम्न क्रम से करना चाहिए।

जैनागम रूपी महासमुद्र के चार भेद हैं। (1) प्रथमानुयोग (2) करणानुयोग (3) चरणानुयोग (4) द्रव्यानुयोग। ये चारों अनुयोग सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी अरिहंत भगवान की दिव्यध्वनि से निःसृत होने के कारण सत्य हैं, तथ्य हैं और उपादेय हैं। चारों अनुयोगों का अध्ययन मनन, चिन्तन, एवं उपलब्धि क्रमशः से ही होती है।

**यथा- अथेष्टु प्रार्थना**

**प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः।**

**शास्त्राभ्यासो .....॥**

पहले प्रथमानुयोग का अध्ययन, मनन, चिंतन, प्राथमिक साधक करें। उसके बाद करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का भी करें। अथात् साधक पूर्व-पूर्व अनुयोग एवं अपनी अवस्थानुसार कर्तव्य में दक्ष होते हुये उत्तरोत्तर अनुयोगों का अध्ययन, मनन, एवं अनुकरण करें।

प्रथमानुयोग में पुण्य पुरुषों का चरित्र, बोधि, समाधि आदि समीचीन विषय का वर्णन है। उसको पढ़कर प्राथमिक साधक महापुरुषों के चरित्र के माध्यम से धर्म को सरल, सहजरूप अवगत कर लेता है। इसलिये इसको प्रथम-अनुयोग-प्रथमानुयोग / प्राथमिक साधकों का अनुयोग कहते हैं। करणानुयोग जिस अनुयोग में लोक-अलोक, युग परिवर्तन, गुणस्थान, जीवसमास आदि का

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत्

70

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत्

71

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वं शश्वत् तत्त्वं

वर्णन है उसे करणानुयोग कहते हैं। इसमें अधिकतर गणित का अवलम्बन लेकर वर्णन है। इसमें सूक्ष्म रूप से गणितिक पद्धति से जीवों की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म एवं अत्यन्त प्रामाणिक वर्णन है। इसमें जिन भावों का वर्णन है वह भाव अन्य अनुयोग के लिए मानदण्ड स्वरूप है। भाव किस तरह उत्तरोत्तर रूप से वृद्धि को प्राप्त होता है उसका सूक्ष्म गणितिक एवं वैज्ञानिक वर्णन है। इस अनुयोग में ही अन्य तीन अनुयोग के वर्णित भावों की परीक्षा की जाती है। यदि करणानुयोग इन भावों को सत्य साबित करता है तो सत्य है अन्यथा मिथ्या है। इसमें किसी प्रकार साहित्यिक, मनोरंजक, अतिशयोक्ति, उपमा, अलंकारात्मक वर्णन नहीं है।

चरणानुयोग में गृहस्थों के अणुब्रत, शिक्षाब्रत, दिग्ब्रतादि चारित्र तथा मुनियों के महाब्रत, समिति आदि 28 मूलगुण-उत्तरगुणादि का वर्णन है। बारह अंग में प्रथम अंग आचारांग है। इसका मूल कारण यह है कि बिना आचरण के रलत्रय की वृद्धि नहीं हो सकती है तथा केवलज्ञान और मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसलिये आचार (चारित्र) प्रथम एवं मुख्य धर्म है। इसलिये आचारांग का वर्णन प्रथम किया गया है।

जिस अनुयोग में जीव अजीवादि सात तत्त्वों का वर्णन है उसको द्रव्यानुयोग कहते हैं। द्रव्यानुयोग अतीन्द्रिय विषयों का सूक्ष्म वर्णन करने के कारण नय ज्ञान विरहित प्राथमिक शिष्यों के लिए अत्यन्त दुरुह, दुरासाध्य एवं किलष है।

जिसने विज्ञ अनुभवज्ञ, अनेकान्तविज्ञ एवं पारंगत गुरु से क्रमशः प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग का अध्ययन मनन-चिन्तन एवं आचरण कर लिया है वह शिष्य गुरु के तत्त्वाधान में इस रहस्य पूर्ण नय उपनय से आकीर्ण सूक्ष्म अनुयोग का अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं आचरण करके शुद्ध परम स्वातंत्र्य उपादेयतत्त्व रूपी समयसार को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा साधक का विशेष उत्थान होना कठिन ही नहीं अशक्य भी है।

जैसे एक विद्यार्थी पहले गुरु के अवलम्बन से वर्ण माला को पढ़ता है। उसके पश्चात् पद, वाक्य, शास्त्रादि का अध्ययन करते-करते आगे बढ़ता है। उसीप्रकार मुमुक्षु साधक पहले गुरु से प्रथमानुयोग पढ़कर उससे आत्मा का उत्थान-पतन को जानकर संसार शरीर भोग से संवेग, वैराग्य को प्राप्त कर करणानुयोग के माध्यम से विभिन्न भावों को एवं उनके फल को जानकर

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वं शश्वत् तत्त्वं

चरणानुयोग के माध्यम से उत्तरोत्तर विशुद्ध भावों को प्राप्त करता हुआ द्रव्यानुयोग में वर्णित स्व-शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह है चारों अनुयोगों का क्रम एवं विषय है। जब तक पहले-पहले के तीन अनुयोग रूप परिणमन नहीं करते हैं तब तक चतुर्थ अनुयोग में वर्णित शुद्ध तत्त्व भी अत्यन्त दूर है।

**प्रश्न :-** समयसार क्या निश्चय से ग्रन्थ स्वरूप है ?

**उत्तर :-** महान् आध्यात्मिक योगी पुरुष आध्यात्मिक क्रांतिकारी एवं मूल आम्नाय के मुख्यस्तंभ स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द के अनेक वाङ्मय में समयसार अन्यतम कृति है। इस शास्त्र में आचार्यवर्य ने समयसार स्वरूप शुद्धात्म द्रव्य-सिद्ध भगवान् का वर्णन किया है।

समय पाहुडं प्राभृतं सम्यक् अयः बोधो यस्य भवति का समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समयः। प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्त्यात्मनः प्राभृतं समय प्राभृत, अथवा समय एव प्राभृत समय प्राभृतम्

स. सार जयसेनाचार्य त। वृ. गा. 1

समय प्राभृत ग्रन्थ का सम्पर्क-समीकीन अर्थ बोध, ज्ञान है जिसका वह समय अर्थात् आत्मा। अथवा सम् एकीभावेनायनम् गमनं “समयः” अर्थात् एकमेक रूप से जो गमन उसका नाम समयः प्राभृत अर्थात् सार शुद्धावस्था। इसप्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभृत अर्थात् शुद्धावस्था वही हुआ समय प्राभृत। अथवा समय जो है वही प्राभृत सो समय प्राभृत।

स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्त्वभावो जीवो नाम पदार्थः समयः समयत एकत्वेन युगप्ज्ञानाति॥ स. सा. अमृतचन्द्र आचार्य । गा. 2

स्व स्वरूप से च्युत न होने से टंकोत्कीर्ण चित्त्वभाववाला जीव नाम पदार्थ है वही समयसार है, एक काल में ही जानना और परिणमन करना ये दो क्रियायें जिसमें हो वह समय है।

“स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूप न पुनः पर समयः”

स. सा. अमृतचन्द्र आचार्य । गा. 2

स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, पर समय शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं। अर्थात् शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी ही स्वसमय है। अन्य समस्त संसारी जीव परसमय है।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वं शश्वत् तत्त्वं

## ॐ शश्वत् रूपं तत्त्वं ज्ञानं यत् तत्त्वं

**बहिरंतरणं भेदं पर समयं भणिणंदेहि।**

**परमणो सगसमयं तभेय जाण गुण गणे॥**

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरण जहण्णा संतोत्ति मज्जिमंतरखीणुत्तम  
परम जिण सिद्धा॥ रयणसार। कुन्दकुन्दाचार्य गा. 148-149

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बहिरात्मा एवं अंतरात्मा को परसमय कहा गया है,  
परमात्मा स्वसमय है उसको गुणस्थान के अनुसार जान लेना चाहिए।

मिश्र गुणस्थान पर्यन्त अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व  
गुणस्थानवर्ती जीव तारतम्य से बहिरात्मा है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि  
जीव जघन्य अन्तरात्मा है। पाँचवें गुणस्थान अर्थात् देशब्रती श्रावक से लेकर  
ग्यारहवाँ उपशांत मोही क्षीणमोही महामुनि उत्तम अन्तरात्मा है। अरिहन्त भगवान्  
अयोग केवली भगवान् एवं सिद्ध भगवान् परमात्मा है। जैसे पंडित दौलतरामजी  
ने भी छहठाला में कहा है।

**बहिरात्म अन्तर आत्म, परमात्म जीव त्रिधा है।**

**देह जीव को एक गिनैं बहिरात्म तत्त्व मुधा है।**

**उत्तम-मध्यम, जघन त्रिविध के अन्तर आत्म ज्ञानी।**

**द्विविध संग बिन शुद्ध उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी॥**

पं. दौलतरामजी। छहठाला। दा. 3-4

**जीवो चरित दंसण णाणद्वित तं हि ससमयं जाण।**

**पुगल कम्मपदेसद्वियं च तं जाण परसमयं॥ स. सा. । गा. 2**

जीवस्वचारित्र दर्शनज्ञानविद्यतो, यदा भवति तदाकाले तमेव जीवं हि  
स्फुटं स्वसमयं जानीहि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावे किंज परमात्मनि यद्युचिरूपं  
सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादि रहित स्वसंवेदन ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं  
वीतरागचारित्रमित्युक्त लक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतं जीव पदार्थ शिष्य  
स्वसमयं जानीहि। पुद्गल कम्मपदेश स्थितं च तमेव जानीहि परसमयम्। पूर्वोक्ता  
निश्चय रत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्यय जीवस्तदा तं जीवं परसमयं  
जानीहि। स. सा. जयसेनाचार्य। त.वृ. गा. 2

वह जीव जब चारित्र-दर्शन ज्ञान में स्थित रहता है उस समय में उसे

## ॐ शश्वत् रूपं तत्त्वं ज्ञानं यत् तत्त्वं

स्वसमय समझो। अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में रुचि  
रूप सम्यग्दर्शन और उसमें रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यज्ञान तथा  
निश्चल स्वानुभूति रूप वीतराग चारित्र इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले निश्चय  
रत्नत्रय के द्वारा परिणत जीवपदार्थ को हे शिष्य ! तू स्वसमय समझ। पुद्गल  
प्रदेश में स्थित उसी जीव को तू परसमय समझ। पूर्वोक्त रत्नत्रय न होने से उस  
काल में परसमय जानो।

**अथः शुद्ध परमात्मतत्त्वं प्रतिपादनं मुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्यप्रति  
बोधनार्थं श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव निर्मिते समयसारं प्राभृतग्रन्थं । स. सा.  
जयसेनाचार्य ता.वृ. गा. 1**

अब शुद्ध परमात्म तत्त्व को मुख्य लेकर विस्तार में रुचि रखने वाले  
शिष्यों के प्रतिबोधन के लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा बनाया हुआ समय  
प्राभृत ग्रन्थ है। समयसार रूप शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस  
ग्रन्थ में विशेष रूप से प्रतिपादन करने से इस ग्रन्थ का यथार्थ नाम समय सार  
है।

### समयसार के लिए योग्य पात्र -

समयसार ग्रन्थ से वर्णित जो आत्म तत्त्व है उस का प्रत्यक्ष अनुभव  
निर्विकल्प समाधिस्थित निश्चयनय अवलम्बन में स्थित महामुनि को ही होता है।  
क्यों समयसार में प्रतिपादित विषय उनके अनुभव एवं आचरण में होने के  
कारण समयसार ग्रन्थ भी महामुनि के लिए ही विशेष प्रयोजनवान है वे ही  
अन्तः बाह्य चित्त चमत्काररूप समयसार को आत्मसात कर सकते हैं। जिसने  
अन्तरंग बहिरङ्ग ग्रन्थ रूपी परसमय का त्याग किया है, वह इसे हृदयंगम कर  
सकता है, आचरण में ला सकता है। परंतु अन्तरंग बहिरङ्ग ग्रन्थवान् (परिग्रही)  
पर समयरत जीव है वह केवल इस ग्रन्थ को ग्रन्थ रूप से (परिग्रह) सिर पर  
धारण कर सकता है, परंतु पूर्ण रूप से ग्रहण करके हृदय में ग्रहण नहीं कर  
सकता है, जैसे कि शेरनी(सिंहणी) का दूध जिस किसी पात्र में नहीं रहता उसे  
सुवर्ण पात्र ही चाहिए, अन्यथा पात्र छिन-भिन होता है अतः उसे योग्य पात्र  
ही चाहिए। अतः सम्पूर्ण रूप से निर्माह, निस्संग, विराग, मुनि ही उस समयसार  
को जानने समझने के व कथन करने के पात्र हैं अन्यथा अपात्र होने पर भी इस

ॐ शश्वत् रूपं तत्त्वं ज्ञानं यत् तत्त्वं 75 ॐ शश्वत् रूपं तत्त्वं

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

समयसार को धारण करने लगे तो जीवनरूपी पात्र छिन्न-भिन्न होगा, टुकड़े टुकड़े होगा अर्थात् स्वच्छंद विषयी-कषायी होगा। जैसे भोजन को योग्य व्यक्ति, योग्य रीति से भोजन करके पचाने पर वह भोजन शक्तिवर्धक होता है। परंतु अयोग्य व्यक्ति अयोग्य रीति से भोजन करने पर अपचन होकर शक्ति क्षीण होती है, रोगों का कारण बनता है। भोजन सिर पर रखने पर केवल वह भार स्वरूप होता है, परन्तु योग्य रीति से भोजन करने से शक्ति वर्धक होता है। उसीप्रकार शास्त्र को केवल सिर पर रखने पर सिर का बोझ बढ़ता है परन्तु आत्मा को कोई लाभ नहीं मिलता है। इस समयसार में वर्णित शुद्धात्म तत्त्व का परिज्ञान एवं प्राप्ति किनको होती है? स्वयं जयसेनाचार्य ने प्रथम गाथा की टीका में कहा है –

“निर्विकार स्वसम्बेदन ज्ञानेन शुद्धात्म परिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः”

इस समयसार ग्रन्थ का प्रयोजन यह है कि निर्विकार स्वसम्बेदन ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा को जानना व प्राप्ति करना है।

सद्गृष्टि जनः पुनरभेदरत्नत्रय लक्षणनिर्विकल्प समाधिबलेन फलस्थानीयं निश्चयन्यमात्रित्य शुद्धात्ममनुभवतीत्यर्थः। स. सा. जयसेनाचार्य ता.वृ.- गा. 11

सम्यग्दृष्टि जीव पुनः अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि बल से फल- स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है।

निश्चयनय किसके लिये –

सुज्ञो सुज्ञादेसो णायब्बो परमभाव दरिसीहि।

व्यवहार देसिदो पुण जे दु अपरमे द्विदाभावे॥ स. सा. -गा. 12

भूतार्थो निश्चयो निर्विकल्पसमाधिरतनां प्रयोजनवान् भवति। किन्तु निर्विकल्प समाधि रहितानां पुनः षोडशवर्णिका सुवर्णलाभाभावे अधस्तन वर्णिका सुवर्णलाभवक्तेषां चिन्प्राथमिकानां कदाचित् सत्विकल्पावस्थायां मिथ्यात्व विषय कषाय दुर्ध्यानिवं चनार्थं व्यवहारन्योपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति।

तात्पर्यवृत्ति - सुज्ञो शुद्धनय निश्चयक्यः कथंभूत सुज्ञादेसो शुद्धद्रव्यस्या देशः कथनं यत्र स भवति शुद्धदेशः णायब्बो ज्ञातव्यः भावयितव्यः कैः परमभावदरसीहिं शुद्धात्म भावदर्थिभिः। कठमादिति चेत् यतः

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

षोडशवर्णिकाकार्तस्वरलाभवदभेद रत्नत्रयस्वरूप समाधिकाले प्रयोजनो भवति। निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः। व्यवहार देसिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण दर्शितः कथित इति व्यवहार देशितो व्यवहार नयः पुनः पुनः अधस्तन वर्णिका सुवर्ण लाभवत्प्रयोजनवान् भवति। केषां जे ये पुरुषा दु पुनः अपरमे अशुद्धे असंयत सम्यग्दृष्टिअपेक्षया श्रावकापक्षेया वा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोग प्रमत्तप्रमत्त संयतापक्षेयाश्च भेद रत्नत्रय लक्षणे वा द्विदा दिथताः कटिमन् दिथताः भावे जीव पदार्थं तेषामिति भावार्थः। स. सा. तात्पर्यवृत्ति - गा. 12

शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परम शुद्धात्मा की भावना में लगे हुए पुरुषों के द्वारा अंगीकार करने योग्य है। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था में स्थित है, उनके लिए व्यवहार नय ही कार्यकारी है अर्थात् उपादेय है।

शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है। वह शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने-भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है। क्योंकि वह सोलहवानी सुवर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि काल में प्रयोजनवान् होता है। किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प भेद, अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहार नय है वह पन्द्रह, चौदह, आदि वानी के सुवर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिये प्रयोजनवान हैं जो लोग अशुद्ध रूप शुभोपयोग में जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणवाला है। और प्रमत्त-अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षणवाला है ऐसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित है।

**व्यवहार नय त्यागने से हानि -**

यद्यपि व्यवहार नयो बहिर्द्रव्यावलंबनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादि बहिर्द्रव्यावलंबन रहित विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव सहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्धर्थितमुचितो भवति यदा-पुनर्व्यवहार नयो न भवति तदा शुद्ध निश्चय नयेन त्रस स्थावर जीवा न भवतीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वति जनाः। तत्क्ष पुण्यरूप धर्मभाव इत्येकं दृष्णं तथैव शुद्धनयेन रागद्रेष्मोह रहितः पूर्वमेव मुक्त जीवमित्यतीति मत्वा मोक्षार्थमनुषानं कोऽपि न करेति ततस्य

## ॐ शश्वत् तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं

मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं । तद्माद् व्यवहारनय व्याख्यानमुचितं  
भवतीत्यभिप्रायः ॥ स. सा. त. वृ. - ग्र. 51

यद्यपि व्यवहार नय बहिर्द्रव्य का आलंबन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलंबन से रहित और विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव के आलम्बन सहित ऐसे परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है क्योंकि यदि व्यवहार नय को सर्वथा भुला (छोड़) दिया जाय तो फिर शुद्ध निश्चय नय से तो त्रस स्थावर जीव है ही नहीं। अतः फिर लोग स्वच्छंद, निःशंक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायेगा एक दूषण तो यह आयेगा ।

तथा शुद्ध निश्चयनय से तो जीव राग-द्वेष-मोह से रहित पहले से ही हैं अतः मुक्त ही हैं, ऐसा मानकर फिर मोक्ष के लिए भी अनुष्ठान कोई क्यों करेगा ? अतः मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा । यह दूसरा दूषण आयेगा । इसलिये व्यवहार नय का व्याख्यान परम आवश्यक है, निर्थक नहीं है ।

(आचार्य ज्ञानसागर हिन्दी टीका से उद्धृत)

परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग-द्वेष मोह से भिन्न कहता है यदि इसी का एकान्त किया जावे, तब शरीर तथा राग, द्वेष, मोह से भिन्न पुद्गलमय ठहरे और तब पुद्गल की बात से हिंसा नहीं हो सकती है और राग-द्वेष-मोह से बंध नहीं हो सकता है । इसप्रकार परमार्थ से संसार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जायेगा ऐसा एकान्त रूप वस्तु का स्वरूप नहीं है । अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तु रूप ही है, इसलिये व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है । इसप्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध रहित श्रद्धान करना सम्यक्त है । ( प. जयचन्द्रजी कृत हिन्दी टीका )

### समयसार की दृष्टि में ज्ञानी व अज्ञानी

यद्यपि सम्यग्दर्शन होने के बाद आगम अपेक्षा सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी है, परंतु आध्यात्मिक दृष्टि अर्थात् समयसार दृष्टि से सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय जनित विषय भोगों से रहित सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प से रहित अंतरंग बहिरंग परिग्रह रहित

ॐ शश्वत् तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं

## ॐ शश्वत् तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं

निर्वेकल्प ध्यान स्थित महामुनि ही ज्ञानी है । उससे अतिरिक्त उस अवस्था से नाचे-नीचे के गुणस्थानवर्ती जीव अज्ञानी हैं, क्योंकि शुद्धात्मानुभूति रूप निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान, अनुभूति रूप आत्मानंद का आस्वादन पूर्ण रूप से नहीं कर पाता है । यथायोग्य विषय कषाय एवं पर पदार्थ में अनुरंजित होने के कारण वह अज्ञानी है । समयसाररूपी बाह्य शास्त्रीय ज्ञान को किसी प्रकार का महत्त्व नहीं देता है अर्थात् ज्ञानी नहीं मानता है ।

पंडिय-पंडिय-पंडिया कण्ठोऽपि तु स ही खंडिया ।

सद्वी अत्योसि तु दण्डोसि परमत्पुण जाणहि मूढोसि ॥ पाहुड दोहा मुनि रामसिंह

हे शब्द- अर्थ ग्रंथ से संतुष्ट को प्राप्त करने वाले पंडित! तू परमार्थ ज्ञान बिना केवल मूढ़ है, अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है । जैसे कण रहित तु स को कूटने पर उससे विशेष लाभ नहीं होता उसीप्रकार तू ते परमार्थ रहस्य को जाने बिना केवल शब्द में संतुष्ट होकर गाथाएँ रटकर लचकदार भाषा से भाषण करके, पर का मनोरंजन करके भी तू कुछ विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर पाया । कारण कि शब्द, ग्रन्थ में परमार्थ तत्त्व, धर्म अथवा आध्यात्मिक नहीं है वह केवल सूचना मात्र है । जैसे किसी रोगी के द्वारा औषधि का नाम लिखे हुए कागज को सेवन करने से वह रोग दूर नहीं होता है । उसीप्रकार शास्त्र कण्ठस्थ करने से भवरोग दूर नहीं होता है । जैसे चित्रित कुएँ से जल प्राप्त नहीं होता है एवं प्यास भी नहीं बुझती है । चित्रित मिष्ठान व भोजन से जिव्हा को स्वाद नहीं मिलता है एवं पेट नहीं भरता है । जैसे माँ बेटे को हाथ की अंगुली से चन्द्र को संकेत करती है, दिखाती है परन्तु चन्द्र अंगुली में नहीं है । इसीप्रकार शास्त्र में परम तत्त्व का संकेत है परम तत्त्व को दिखाता है किन्तु ग्रन्थ में परमतत्त्व नहीं है । जैसे पानी के पात्र में सूर्य बिम्ब दिखाई देता है किन्तु पानी में सूर्यबिम्ब नहीं है किन्तु पानी से बहुत दूर में है । उसको प्राप्त करने के किये तदनुकूल क्रिया करना आवश्यक है । जैसे मानचित्र में देश-विदेशों का चित्र है परंतु हम उसमें ही देशं विदेशों को ढूँढेंगे तो उसमें देश-विदेश नहीं मिल सकता है । उसीप्रकार शास्त्र में तत्त्वों का मान चित्र है किन्तु यथार्थ तत्त्व उसमें नहीं है । उस संकेत के अनुसार हम सम्यक् क्रिया करेंगे तो उस तत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं । जैसे रोड (रास्ते) पर माईल स्टोन में नगरों का नाम एवं दूरी एवं दिग्सूचित रहता है परंतु उस माईल

ॐ शश्वत् तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं तत् त्वं

79

A decorative horizontal scrollwork border featuring a repeating pattern of stylized floral or scroll-like motifs.

स्टोन को पकड़ कर बैठने पर उन-उन नगरों में नहीं पहुँच सकते हैं। उस माईल स्टोन को छोड़कर एवं गमन करने पर ही उन-उन नगरों को प्राप्त कर सकते हैं। उसीप्रकार शास्त्र में मोक्षादि तत्त्वों का वर्णन है। उस वर्णन के अनुसार यदि सम्यक् आचरण करेंगे तब मोक्षादि तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। जैसे एक विद्यार्थी वाणिज्य विद्या (कॉमर्स) में स्नातकोत्तर (M. Com.) होने के बाद भी वह कुशल व्यापारी नहीं हो सकता है। वाणिज्य विद्या का विद्यार्थी होने मात्र से वह सेठ नहीं बन सकता है। उस विद्या के अनुकूल व्यापार करने पर ही धनोपार्जन कर सकता है। एक कुशल निरक्षर व्यापारी व्यापार के माध्यम से सेठ बन सकता है परन्तु साक्षरी वाणिज्य विद्या विशारद भी उस निरक्षरी सेठ का नौकर होकर कार्य कर सकता है।

अकरवरडेहि जि गव्विया कारण् ते ण मुणंति ।

वंस विह था डोम जिम परहथडा धुणंति ॥ पाहुङ दोहा मुनि रामसिंह

कारण को नहीं जानने वाला अक्षरज्ञ मनुष्य का ज्ञान व्यर्थ है। उससे वह आत्मोन्ति नहीं कर सकता है। वह स्वावलंबी रूप आत्मावलंबी नहीं हो सकता है। जैसे डोम बांस से रहित होने के कारण अपना खेल दिखाने रूप कार्य नहीं कर सकता है। केवल हाथ धुनते रहता है। उसीप्रकार शास्त्र के रहस्य को हृदयंगम नहीं करने वाला, आचरण में नहीं लाने वाला केवल हाथ मलते रहता है।

सत्यं णाणं ण हवदि जम्हा सत्यं ण याणदे किंचि ।

तम्हा अणणं णाणं अणणं सत्यं जिणा विति ॥

सद्वा णाणं ण हवदि जम्हा सद्वा ण याणदे किंचि।

तम्हा अण्ण णाणं अण्ण सद्वं जिणा विति ॥ स. सा.- गा. ४१४-४१५

शास्त्र और ज्ञान एक नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है। वह तो जड़ है। इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है और शास्त्र उससे भिन्न वस्तु है। ऐसा जिन भगवान् कहते हैं।

शब्द भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ नहीं जानता है। इसलिये ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है। और शब्द उससे मिल वस्तु है ऐसा जिन भगवान् कहते हैं।

पृतकेष च या विद्या परहस्तेष यदधनम् ।

उत्पल्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तदधनम् ॥ चाणक्यनीति दर्पण - शोक.20

A decorative horizontal border featuring a repeating pattern of stylized floral or scrollwork motifs in a dark blue-grey color.

जो विद्या कण्ठ में न रहकर पुस्तक में लिखी पड़ी है। जो धन अपने हाथ में न रहकर पराये हाथ में पड़ा है अतएव आवश्यकता पड़ने पर अपने काम नहीं आ सकती, अतः वह विद्या न विद्या है और न वह धन, धन ही है।

जैसे एक कृषि विद्या में स्नातकोत्तर उत्तीर्ण होकर भी कृषि कार्य करने में अर्थात् हल चलाने में, मिट्टी खोदने में, मिट्टी ढोने आदि में असमर्थ भी हो सकता है। परंतु जो कृषक है जिसने कृषि विद्या संबंधी विशेष आक्षरिक अध्ययन भी नहीं किया वह कृषिकार्य को दक्ष होकर करता है। उसीप्रकार केवल शास्त्रज्ञ आत्मतत्त्व से, आत्म भावना से, धर्म-कर्म से दान पूजादि कर्तव्यों के पालन करने में असमर्थ भी हो सकता है, और परामुख भी हो सकता है। उसीप्रकार अक्षरज्ञ पंडित के लिए वह शास्त्र विशेष कार्यकारी नहीं है, परंतु जो विशेष शास्त्रज्ञ नहीं है किन्तु आचरण में धर्म को लाता है वह कृतकार्य हो सकता है। जैसे कि प्रथमानुयोग में शिवभूति, भीमसेन जैसे अनेक अक्षर ज्ञान से अनभिज्ञ मोक्ष को प्राप्त करने वालों का दृष्टांत मिलते हैं। तथा ग्यारह अंग पाठी भी अपने कुकृत्यों से अधोगति-दुर्गति को प्राप्त हुए। जैसे केवल भोजन करने मात्र से शक्ति-वृद्धि नहीं होती है। भोजन के यथार्थ पाचन से ही शक्ति प्राप्त होती है। उसीप्रकार शास्त्र को आत्मसात करके तदनुकूल आचरण करने से ही आत्मविशुद्धि होती है। जैसे भोजन नहीं पचने से उससे रोग ही बढ़ता है उसीप्रकार शास्त्र को भी नहीं पचाने पर अर्थात् आचरण में नहीं लाने पर वह भी अपाच्य आहार के समान अपथ्य का अर्थात् विष का कार्य करता है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रजा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं कि करिष्यति ॥ - नीति ग्रन्थ

जिसके विवेकरूपी प्रज्ञा चक्षु नहीं है। उसके लिए शास्त्र कोई कार्यकारी नहीं है। जैसे दृष्टि रहित अंधे के लिए दर्पण कोई कार्यकारी नहीं है। अर्थात् दृष्टि शक्ति बिना मनुष्य स्वच्छ दर्पण में भी अपना मुख नहीं देख पाता है। उसी प्रकार हिताहित विवेक रहित मनुष्य भी शास्त्र से अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है।

विद्या विगदाय धनं मदाय शक्ति पदेषां परमीडनाय।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

खंल दुर्जन व्यक्ति विद्या प्राप्त करके विवाद करता है, धन प्राप्त करके

80

A decorative horizontal border at the bottom of the page, featuring a repeating pattern of stylized floral or scrollwork motifs in black ink.

मदोन्मत्त होता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को पीड़ा देता है, परंतु साधु धर्मात्मा पुरुष विद्या प्राप्त करके हिताहित विवेक विद् ज्ञानी बनता है, दान प्राप्त करके दान देता है, एवं शक्ति प्राप्त करके दूसरों की रक्षा करता है। जैसे अग्नि के द्वारा भोजन तैयार करके उससे शरीर की पुष्टि कर सकते हैं और अग्नि को शरीर के ऊपर डालकर शरीर को नष्ट भी कर सकते हैं। उसीप्रकार शास्त्र के माध्यम से आत्म-विशुद्ध करने से शास्त्र, शास्त्र हैं अन्यथा वह शास्त्र है अर्थात् पाठक के लिए घातक भी है।

“अज्ञानिनां निर्विकल्प समाधिभ्रष्टानां।”

जो निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट हैं अर्थात् निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं। वह अज्ञानी है। और जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है वह ज्ञानी है।

निर्विकल्प समाधि परिणाम परिणत कारक सम्यसार लक्षणेन भेद ज्ञानेन सर्वारम्भापरिणतत्त्वात् ज्ञानिनो जीवरूप शुद्धात्मप्रतीति संवित्युपलब्धनुभूतिः रूपेण ज्ञानमय एव भवति । अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्ता भेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मनुभूतिः स्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एवं भवतीत्यर्थः । जयसेनाचार्य । ता. व. - गा. 134

निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम से परिणत रहने वाला जो कारण समयसार है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा सभी प्रकार के आरंभ से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव का वह भाव शुद्धात्मा की ख्याति, प्रतीति, संवित्ति, उपलब्धि, या अनुभूति रूप से ज्ञानमय ही होता है। किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोवत् भेदज्ञान न होने से शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप का अभाव होने से उसका वह भाव अज्ञानमय होता है।

जो आत्मा अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य रूप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्य समयसार कहलाता है, किन्तु जो अनंत चतुष्टय को प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिए निर्विकल्प समाधि में लगता है वह उपर्युक्त कार्य समयसार का सम्पादक होने से कारण समयसार कहलाता है। जो सब प्रकार आरंभ -परिग्रह आदि से रहित होकर अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति लिये हुए रहता है। अतः उसके राग-द्वेषादि रहित शुद्ध ज्ञानमय भाव ही होता है। किन्तु जो समाधि से च्युत होकर अशुद्ध होता है अतः उसका भाव उससमय अज्ञान मय होता है ऐसा आचार्य का कहना है। (स.सा. आचार्य ज्ञानसागर की हिन्दी टीका विशेषार्थ - गा. 132)

“आदा तावदु कता सो होदि णादव्यो तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स  
गाझानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः ॥”

तब तक परम समाधि के न होने से वह जीव अज्ञानी होता है जो कि कर्मों को करने वाला होता है ऐसा समझना चाहिए।

निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणे भेद ज्ञाने स्थितता भावना कार्येति तामेव  
भावनां दृढयति । यथा कोऽपि राजसेवक पुलषो रोजशत्रुभिः सह संसर्गं कुवर्णः  
सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माराधक पुरुषस्तत्प्रियपक्षभूत  
मिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः ।  
समयस्मार । ता. कृ. गा. 20-21-22

निर्विकार स्वसंवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान में निमग्न होकर भावना करनी चाहिए। इसी बात को फिर दृढ़ करते हैं कि जैसे कोई राजपुरुष भी राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता। उसीप्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा के प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादि भाव हैं उन रूप परिणमन करने वाला होता है। तब वह परमात्मा का आराधक नहीं हो सकता यह इसका निचोड़ (तात्पर्य) है।

जिसप्रकार आत्मा से इतरपदार्थों में अंहकार रखने वाले को भी अप्रतिबन्ध बतलाया है, उसी प्रकार उन में ममकार रखने वाले को भी अप्रतिबन्ध बताते हुए उन सबसे दूर हटकर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही अप्रतिबन्ध ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि कहा है। (आचार्य ज्ञानसागरजी की हिन्दी टीका से उद्धृत)

निश्चयज्ञ कौन-

जो इन्दिये जिणिता णाणसहावाधियं मुण्डि आदं।

त खलु जिद्धियं ते भण्णति जे णिच्छिदा साह॥

समयसार गा. 36 में क्षेपक-कर्ताकर्माधिकार

निर्थय में तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्मा का अनुभव करने वाले साधु लोक उसे जितेन्द्रिय कहते हैं। जो इन्द्रियों को वश में करके अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है।

यःकर्ता द्रव्येन्द्रिय - भावेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय विषयान् जित्वा शूदृज्ञानं चेतना

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

गुणेनाधिक परिपूर्ण शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति संचेतयाति। तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेन्द्रियं भणन्ति ते साधवः के ते ? निश्चयज्ञा।

स.सा. जयसेनाचार्य । ता. वृ. गा. 36

जो जीव द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय रूप पञ्चेन्द्रियों के विषयों को जीतकर शुद्ध ज्ञान चेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्धात्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है अर्थात् शुद्धात्मा से तन्मय होकर रहता है, उस पुरुष को ही निश्चय नय के जानने वाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं।

यः पुरुष उद्यागतं मोहं सम्यग्दर्थकज्ञानचारित्रेकाग्रयरूपं निर्विकल्पं समाधिभवेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति। तं साधुं जित मोहं रहितमोहं परमार्थं विज्ञायाका ब्रुवन्ति कथयन्तीति।

स. सा. जयसेनाचार्य कृत. गा. 36

जो पुरुष उदय में आये हुए मोह को सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्याचारित्र इन तीनों की एकाग्रता रूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर अर्थात् दबाकर शुद्धज्ञान गुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्मा को मानता है, जानता है, और अनुभव करता है, उस साधु को परमार्थ के जानने वाले 'जित मोह' अर्थात् मोह से रहित जिन, इसप्रकार कहते हैं। (आचार्य ज्ञानसागर की हिन्दी टीका से उद्धृत)

उपरोक्त आगम प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि केवल शास्त्र कण्ठस्थ करने से अध्ययन-अध्यापन करने से, उपदेश देने से, शास्त्रों की रचना एवं टीका करने से अथवा आत्म तत्त्व (निश्चय नय) का वर्णन करने से कोई निश्चयज्ञ नहीं हो सकता। किन्तु जब भव्य सम्यग्दृष्टि जीव संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को त्यागकर पञ्चेन्द्रिय विषय कषाय को जयकर परिषह उपसर्ग को सहन कर, कषायों का क्षय या उपशम करके, समस्त-विकल्प से दूर होकर, निर्विकल्प समाधि के माध्यम से स्व शुद्धात्मा को जानता है, मानता है, भावना करता है वही निश्चयज्ञ हैं अन्य नहीं। अर्थात् सातिशय सप्तम गुणस्थानवर्ती से ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव निश्चयज्ञ हैं। उसके नीचे के गुणस्थानवर्ती जीव निश्चयज्ञ नहीं हैं। पूर्ण निश्चयज्ञ तो केवलज्ञानी अरिहंत एवं सिद्ध ही हैं। जो परिग्रहादि धारण करके स्त्री विषय भोगकर, विषय कषायों में होते हुये अपने को निश्चयज्ञ मानता है वह स्वयं को ही पतित करता है। और उसी

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

प्रकार गृहस्थ-श्रावक को पंडितों को भी अथवा निर्विकल्प समाधि से नीचे स्थित मुनियों को भी जो निश्चयज्ञ मानता है, वह भी आगम के रहस्य को नहीं जानता है वह भी अंधकारमय में ही है।

**मुख्यरूप से समयसार किसके लिये-**

“अत्र ग्रंथ वर्णतुवृत्त्या वीतराग सम्यग्दृष्टिर्थिणं, वर्णतु चतुर्थं गुणस्थानवर्तीं सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या गृहणं” स.सा. ता. वृ. 2 2 जयसेनाचार्य

इस ग्रंथ से वास्तविक वीतराग सम्यग्दृष्टि (ध्यानस्थ एवं श्रेणी स्थित मुनि) का ही ग्रहण है। परन्तु चतुर्थं गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि का कथन यहाँ गौण है।

ध्यान स्थित मुनि समयसार में वर्णित विषयों का अनुभव करता है ; आचरण करता है, श्रद्धान करता है, मानता है, जानता है, इसलिये समयसार का विषय मुख्य रूप से मुनियों के लिए है। उसके नीचस्थ सम्यग्दृष्टि जैसे छठवाँ गुणस्थान स्थित मुनि, पाँचवे गुणस्थानवर्ती देशब्रती श्रावक एवं चतुर्थं गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि जीव समयसार के पूर्ण आचरण नहीं कर पाते हैं। चतुर्थं गुणस्थानवर्ती जीव मुख्यता से श्रद्धान करता है किन्तु आचरण में नहीं ला पाता है उसके लिये समयसार गौण है। सम्यग्दृष्टि जीव केवल तत्त्वों का श्रद्धान करता है परंतु पञ्चेन्द्रियों के विषय से विरत नहीं हो पाता है, भोग-उपभोग को भोगता रहता है, धनोपार्जन के लिये व्यापार धंधा करके त्रस और स्थावर का भी वध करता रहता है, मन सतत राग-द्वेष कामादि विषय वासना में रत रहता है, अत्यन्त स्थूल अणुव्रत भी धारण नहीं कर पाता है, अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रहने के कारण उसका मन क्षुभित रहता है। मन और इन्द्रियों को वश करने में वह समर्थ नहीं हो पाता है जिससे वह स्थूल परिग्रह भी त्याग नहीं कर पाता है। जब वह उत्कृष्ट धर्मध्यान व पुण्यकर्म, शुभोपयोग भी नहीं कर पाता है तब वह कैसे अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरंग परिग्रहों को त्याग करके मन को वशवर्ती करके निर्विकल्प ध्यान कर सकता है ? इसलिए समयसार के विषय को सम्यग्दृष्टि श्रद्धान करता है, किन्तु आचरण नहीं कर पाता है, परंतु उसके योग्य अन्य धार्मिक क्रियाओं को करते हुए जब आगे बढ़ते हुए अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को छोड़ते हुए आर्तरौद्र ध्यान को नष्ट करते हुए शुभ ध्यान को ध्याते हुए मुनिरूप

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

85

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

को धारण करते हुए निर्विकल्प समाधि में लीन होता है तब समयसार को प्राप्त कर सकता है। जब तक इस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है तब तक यथायोग्य दान-पूजा-अभिषेक षट् आवश्यक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तीर्थयात्रा, देवदर्शन-जप-तप सामायिक आदि शुभ क्रियायें करनी चाहिये, जो कि आत्म-विशुद्धि के लिए कारण हैं, पाप निर्जरा के लिये कारण, पुण्यबंध का कारण एवं परंपरा से मोक्ष के लिए कारण है। यदि श्रावक अवस्था में रहते हुए यथायोग्य श्रावकों की क्रियाओं को नहीं करता है वह इतोभ्रष्ट ततोभ्रष्ट उभयभ्रष्ट है। इसीप्रकार मुनि भी जब तक निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं करता है तब तक 28 मूलगुण, देववंदनादि षट् आवश्यक क्रिया को निर्दोष पूर्वक पालन करना चाहिये। यदि इन शुभ क्रियाओं से पुण्यबंध होता है ऐसा मानकर त्यागकर देगा तो वह भी उभयभ्रष्ट है, क्योंकि घर-द्वार स्त्री कुटुम्बादि को छोड़कर इहलोक सुख से वंचित ही है तथा स्व मुनि योग्य कर्तव्य न करने से परलोक सुख से भी वंचित हो जायेगा। जो केवल सांसारिक सुख भोगते हुए, परिग्रह को संचय करते हुए, स्त्री कुटुम्ब का सुख लेते हुए, भोग से योग मानते हुए, भक्ति से मुक्ति मानते हुए, संभोग से समाधि मानते हुए स्वयं को मोक्षगामी मुमुक्षु वीतरागी मानता है वह अपने को धोखा दे रहा है। क्योंकि उपरोक्त कार्य आत्मा से विपरीत होने के कारण उससे मोहनीयादि तीव्र पापबंध होते हैं जिससे केवल सांसारिक घोर दुःख ही दुःख मिलता है।

“दो मुख पंथी चले न पन्था, दो मुख सुई सिये न कन्था।  
दोय बात नहि होय सयाने, विषय भोग अरु मुक्ति प्रयाने”

रागद्वेष के त्याग विना यथारथ पद नाही।

कोटि ग्रंथ पढ़ो व्यारव्या करो सब अकारज जाहि॥

समयसार क्या ? उनका अनुभव कौन कर सकता है ?

कर्म बद्धमवद्धं जीवे तु जाण णयपकर्वं।

णयपकर्वार्तिकक्तो भण्णदि जो सो समयसारो ॥ समयसार । गा. 150

जीव में कर्म बन्धे हैं अथवा नहीं बन्धे हुए हैं इसप्रकार तो नय पक्ष जानो और जो पक्ष से दूरवर्ती कहा जाता है, यह समयसार है, निर्विकल्प शुद्धात्म तत्त्व है।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

“ततो य एव समस्तं नयपक्षमातिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमति क्रामति, य एव समस्त विकल्पमतिक्रामति स एव समयसार बिदति”

(श्रीमद्भूतचन्द्राचार्यकृत आत्मख्याति)

इसलिये समस्त नयपक्षों को छोड़ता है, तथा वही समयसार का अनुभव कर सकता है।

नयपक्षातिक्रांतो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा । तद्यथा-व्यवहारेण बद्धो जीव इति नय विकल्प शुद्ध जीव स्वरूपं न भवति निश्चयेनाबद्धो जीव इति च नय विकल्पः शुद्ध जीव स्वरूपं न भवति, निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्ध जीव इति वचन विकल्पः शुद्ध जीव स्वरूपं न भवति । कर्मादिति चेत् ? श्रुत विकल्पा नया इति वचनात्-श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिक क्षायोपशमस्तु ज्ञानवरणीय क्षायोपशमज्ञिन्त तत्त्वात् यद्यपि व्यवहार न्येन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूप भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्ध जीव स्वरूपं न भवति । तर्हि कथं भूतजीवस्वरूपमिति चेत् ? योसौ नवपक्षपात रहित स्वसंवेदन ज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्ध मूढा-मूढादि विकल्परहितं चिदानन्दैक स्वभाव जीवस्वरूपं भवतीति । ( जयसेन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा 15 )

शुद्धात्म तत्त्व के वास्तविक स्वरूप जो कि समयसार नाम से कहा जाता है वह है तो इन दोनों पक्षों से भिन्न प्रकार का ही है, क्योंकि व्यवहार नय के कहने के अनुसार जीव कर्म से बँधा हुआ है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है और निश्चयनय से जीव कर्म से अबद्ध है। वह भी नय का विकल्प है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। इसलिये निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को बद्ध और अबद्ध कहना यह जीव मात्र का स्वरूप नहीं है। यह नय का विकल्प है। नय जितने भी होते हैं वह सब श्रुतज्ञान के विकल्प रूप होते हैं वह सिद्धांत की बात है। और श्रुतज्ञान है सो क्षायोपशमिक है। वह क्षायोपशम ज्ञानवरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होने के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरूप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ रुद्रामृतं रुद्रामृतं रुद्रामृतं रुद्रामृतं

शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। तब फिर जीव का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं। नय के पक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानी जीव है उसके विचारानुसार जीव का स्वरूप बद्वाबन्द्व या मूढ़ामूढ़ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंद स्वरूप होता है।

**ण्य एव मुक्ता नयपक्ष पातं स्वरूप गुप्ता निवसन्ति नित्यं।**

**विकल्पं जालं च्युतं शांतं चित्तस्ताएव साक्षात् अमृतं पिबन्ति ॥ 68 ॥**

जो लोग नय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आप के स्वरूप में तस्थीन रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित शांतचित्त वाले होते हैं वे लोग ही साक्षात् अमृत का समयसार का पान करते हैं।

**एकस्य वज्जो न तथा परस्य चित्तिद्योद्दर्शवित्तिपक्षपातौ।**

**पत्तात्परेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चित्तिदेव ॥ 69 ॥**

जीव व्यवहार नय की अपेक्षा से बद्ध होता है और निश्चय नय की अपेक्षा से वह बद्ध नहीं होता है। अतः इन दोनों नयों के विचार में अपना-अपना पक्षपात है। इसलिये पक्षपात रहित तत्त्ववेदी पुरुष के ज्ञान में चेतन-चेतन ही है।

**समयारब्यानकाले या बुद्धिर्नियद्यात्मिका।**

**वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वरस्य निवर्तते।**

**हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिर्वाच नयद्यात्।**

**त्यक्ता हेयमुपादेयेवस्यानं साधुसम्मतं ॥ (स. सा. जयसेनार्था ग. ता. दृ.)**

आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों को लेकर चलती है। किन्तु तत्त्व को जान लेने के बाद स्वस्थ हो जाने पर उहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्त्व का निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उपादेय तत्त्व में लगे रहना साधु-संतों को अभीष्ट है।

आह्वान –

**जिस करणी से हम हुए अरहंत सिद्ध महान्।**

**उस करणी तुम करो हम तुम दोनों समान ॥**

## ॐ रुद्रामृतं रुद्रामृतं रुद्रामृतं रुद्रामृतं

### उपसंहार

समयसार वस्तुतः शास्त्र नहीं है, जो कि कुछ स्वर व्यंजनात्मक वाक्य से लिपिबद्ध है। वह तो एक परमोत्कृष्ट, अलौकिक, अभौतिक, अतीन्द्रिय, शब्दातीत, वचनातीत, अनाकार, मनातीत, परमतत्त्व है। वह परमतत्त्व वचन के अगोचर, शब्द से अवर्णनीय, शास्त्र की सीमा से परे है कोई भी उसको हाथ में लेकर देख नहीं सकता है। सूक्ष्म अणुवीक्षण, दूरदर्शक यंत्र से भी देख नहीं सकता है, भौतिक विज्ञान शाला का अविषय है। वचन के अगोचर होते हुए भी जिसका कथन सतत आध्यात्मिक विशारद करते हैं, शास्त्र की सीमा से परे होते हुए भी जिसका वर्णन समस्त आध्यात्मिक शास्त्र करता है, जिसका प्रदर्शन करवाना असंभव होते हुए भी समस्त आध्यात्मिक प्रशिक्षक जिसका ही प्रदर्शन करते हैं, वही परमोत्कृष्ट स्वतत्त्व समयसार है। जिसका दर्शन चक्षु आदि इन्द्रियों से, सूक्ष्म शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक दूरदर्शक यंत्र से, तर्क, व्याकरण, छन्द, साहित्य, काव्य, नाटक, न्याय, दर्शन, आगम, आध्यात्मिक शास्त्र से भी नहीं हो सकता है। उसका दर्शन निःशंक, निरालम्बी, अकिञ्चन, महामुनि, सहज स्वभावी निर्विकल्प परमसमाधि के माध्यम से करते हैं। जो तर्क, वितर्क, कुर्तर्क, सुर्तर्क के अगम्य वाद विवाद कुवाद सुवाद के परे होते हुए भी जो सहज सरल महामुनि को वेद गम्य हैं। जो परममुनियोंका परम ध्यान का विषय होते हुए भी स्वयं ध्यानातीत, जो निश्चय-व्यवहार, द्रव्य-पर्यायात्मक नय का विषय होते हुए भी स्वयं सर्व नयातीत है, जो निक्षेपों के विषय होते हुए भी स्वयं निक्षेपातीत है, जो सर्वज्ञेय पदार्थ को जानते हुए भी स्वयं अन्य ज्ञेय स्वरूप नहीं है जो सर्वद्रव्य संयोग सहित होते हुये भी स्वयं असंग स्वरूप है वह है अतिविचित्र, अतिगृह, शुद्ध स्वात्मतत्त्व जो अमूल्य होकर भी त्रिलोक के मूल्य से भी खरीदा नहीं जा सकता, जो गुरुता से (भारीपन) रहित होकर भी त्रिलोक का गुरु है, जो सूक्ष्म होकर भी लोकालोक से भी अनन्त गुणा (ज्ञानापेक्षा, बड़ा है) वह है महान् तत्त्व स्वशुद्धात्म तत्त्व। जो अगुरुलघु (न भारी, न हल्का) होते हुए भी जिसको चलायमान कराने में त्रिलोक की शक्ति असमर्थ, जो दूसरों को प्रतिरोध (अव्याबाध) नहीं करते हुये भी जिसे कोई उनको बाधा नहीं पहुँचा सकता, जो मन वचन काय बल से

हित होकर भी अनंतवीर्य है, वह स्वयं सर्वशक्तिवान् समयसार तत्त्व स्वशुद्धात्म तत्त्व है। जो समस्त घराचर का दर्शक होते हुए भी स्वयं चर्मदृष्टि के अगोचर, सर्व ज्ञान दर्शन होते हुए भी जो स्वयं अनन्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि है वह शुद्ध बुद्ध ज्ञान रूप आत्मतत्त्व समयसार स्वशुद्ध तत्त्व है। (जो मिथ्या देवादियों का दर्शन करता है वह मिथ्यादृष्टि परंतु शुद्धात्मा, अनंतदर्शन से सबका दर्शन करते हुए भी क्षायिक अनन्त सम्यक्त्ववाला है। जो सुख से (काम-भोग इन्द्रिय जनित सुख से) रहित होकर भी जो त्रिकाल वर्ती-नर-नरेन्द्र, देव-देवेन्द्र, असुर प्रसुरेन्द्रादियों के सुख से भी अनन्त गुणित अतीन्द्रिय, अव्याबाध, निराकांक्षी, शात्पोत्थ, निराकुल, ज्ञानानंद रूप, अमित सुख का अनुभव करता है, वह अनंत गान्ति, सुखी, आत्मोपयोगी, महेन्द्र, विष्णु, शंकर, शुद्ध-बुद्ध-प्रबुद्ध परम प्रभौतिक चिज्ज्योतिस्वरूप, आनंद स्वरूप त्रैकाली ध्रुवतत्त्व स्वशुद्ध आत्मतत्त्व निश्चय से समयसार है। जो दूसरों का तो कभी स्मरण नहीं करता है परंतु जेनका स्मरण मुनीन्द्र, देवेन्द्र, नरेन्द्रादि करते हैं वह परमेश्वर, प्रभु-विभु अर्हन्, विष्णु पूज्यपाद, परमाराध्य त्रिलोक पूज्य स्वशुद्ध तत्त्व, उल्कृष्ट परमोपादेय समयसार है।

यः स्मर्यते सर्व मुनीन्द्र वृद्धैः

यः स्तुयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।

यो गीयते वेद पुराण शास्त्रैः

स देव देवो हृदये ममास्ताम् ॥ भा. द्वा. 12 ॥

यो दर्शनं ज्ञान सुख स्वभावः

समस्त संसार विकार बाह्यः

समाधि गम्यः परमात्मसंज्ञः

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ (भा. द्वा. 13 ॥

यो व्यापको विश्व जनीन वृत्तैः

सिद्धो विबुद्धो धृत कर्मवन्यः ।

ध्यातो धुनीते सकलं विकारं

स देवदेवो हृदयो ममास्ताम् ॥ भा. द्वा. 13 ॥

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः  
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ समाधिशतकम् 6 ॥  
नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।  
वित्तव्यावाय भावाय सर्व भावान्तररिच्छिदे । अमृत कलश 1 ॥

उपाध्यायश्री कनकनन्दी 7-11-87

### धर्म की परीक्षा

यथा सुवर्ण परिपक्षते धर्षण छेदन ताप ताडनैः ॥  
धर्मो विदुषाः परीपक्षयंते श्रुतेन शीलेन तपदयागुणैः ॥

जैसे सुवर्ण को धर्षण, छेदन, अग्निमें तपना, एवं ताडना से परीक्षा करके शुद्ध सुवर्ण ग्रहण किया जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी धर्म को शास्त्र से, शील से, तप से एवं दया गुण से परीक्षा करके शुद्ध धर्म को ग्रहण करता है अर्थात् जिस धर्म में अविरोध शास्त्र है, शील है, तपश्चर्या है, दया धर्म है वही धर्म सत्य धर्म है अन्य धर्म कुर्धर्म है। अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बुद्धिहीन जन दयादीन धर्म को स्वीकार करते हैं, ज्ञानी सम्यग्दृष्टि बुद्धिमान जन नहीं।

### आचार्य कनकनन्दी-सूक्ष्मितयाँ

संकल्प शक्ति निर्मलभाव, साम्यावस्था की साधना विना जो ध्यान की साधना करता है उसका ध्यान वक्-ध्यान के समान है।

\* \* \*

आत्मा की पवित्रता निश्चय/अनन्तरंग/ मुख्य धर्म है, तो दूसरों से सत् व्यवहार करना व्यवहार/ वहिरंग धर्म है।

\* \* \*

अन्तभूत एवं भविष्यकाल से भी श्रेष्ठ वर्तमान का थोड़ा समय है क्योंकि भूत को हम प्राप्त नहीं कर सकते हैं परन्तु वर्तमानकाल के आधार पर भविष्यत् निर्धारित होता है।



॥ श्री वीतरागाय नमः ॥  
तस्स भुवणेकक गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स

## देवसेन आचार्य का अद्वितीय व्यक्तित्व और कृतित्व ( शंका जैनों की समाधान देवसेन के )

परम जिनागम रहस्य—ज्ञाता—उभय भाषाविद्, नय—चक्र संचारक धुरन्थर, अक्षुण्ण चारित्र पालनैकधीर, मूलसंघ, कुन्दकुन्द आम्नाय के समर्थ पोषक एवं प्रचारक, महाप्राज्ञ देवसेन आचार्य जैन धर्म के एक अलौकिक ज्योतिपुंज थे। उनके वर्तमान उपलब्ध निश्चय व्यवहार समन्वयात्मक अनेक बेजोड़ ज्वलन्त कृति से उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से प्रतिभाषित होता है। आचार्य प्रवर स्वयं एक समन्वयात्म अनेकान्तवादी होते हुए भी उन्होंने मिथ्यामत का सम्यक् खण्डन करके सत्य धर्म का प्रतिपादन स्पष्ट एवं निर्भय रूप से अपनी समस्त कृति में यत्र तत्र किया है, कृतित्व से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व पहचाना जाता है, इस न्यायानुसार उनके द्वारा रचित वर्तमान उपलब्ध कृतियों के माध्यम से उनके व्यक्तित्व का हम अवलोकन करेंगे। उनके द्वारा रचितशास्त्र निम्नलिखित हैं। (1) दर्शन सार (2) नयचक्र (3) आलाप पञ्चति (4) श्रुत भवन दीपक नयचक्र (5) तत्त्वसार (6) भावसंग्रह (7) आराधनासार इनके इतने शास्त्र उपलब्ध हैं। धर्मसंग्रह पुस्तक अप्राप्य है।

### ( 1 ) दर्शनसार

दर्शनसार एक लघुकृति प्राकृत दोहा बद्ध शास्त्र है। इसमें मूल आम्नाय के समर्थक प्रचारक एवं पोषक देवसेन आचार्य ने जैनाभासियों का उत्पत्तिकाल एवं उनके शिथिलाचार के बारे में ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक वर्णन किया है। भाव संग्रह में आचार्य श्री ने समस्त मिथ्यामत का सविस्तृत खण्डन किया है। दर्शन सार में आचार्य श्री ने पाँच जैनाभासियों का वर्णन किया है।

जैनाभास

गोपुच्छक श्वेतवासा द्रविडोयापनीय ।  
निष्ठिच्छयेति चैतो पञ्च जैनाभासः प्रकीर्तिः ॥

A decorative horizontal scrollwork border featuring a repeating pattern of stylized floral or scroll motifs in a dark grey color.

(1) गोपुच्छक (2) श्वेताम्बर (3) द्राविड (4) यापनीय (5) निपिच्छिक (माध्युर) ये पाँच प्रकार जैनाभास कहे गये हैं।

( 1 ) गोपच्छक

આસીકુમારસેણો ણંદિયડે વિણયસેણા દિવિત્રવો ।  
 સણ્ણાસ મંજણેણ અગહિયે પુણદિકરવો જાદો ॥ 33 ॥  
 સત્તસે તેવળ્ણે વિકન્મરાયસ મરણપત્રસ્સ ।  
 ણંદિયડે વરગામે કદ્વો સંઘો મુણેયલો ॥ 34 ॥  
 ણંદિયડે વરગામે કાપાટોસો મા માય વિણાયારી ।

आचार्य विनय सेन के द्वारा दीक्षित आचार्य कुमार सेन जो संन्यास से छोड़ होकर पुनः गुरु से दीक्षा न ली और सल्लोखना के समय दर्शन से भ्रष्ट होकर दद्दि तट ग्राम में (वि. सं. 753 में) गोपुच्छक हो गए।

गोपुच्छक में मूलसंघ के विरुद्ध सिद्धांत

कुमारसेन ने मधूर पिच्छी का त्याग कर तथा चमरी गाय की पूँछ के बालों को ग्रहण कर सारे बागड़ प्रांत में उन्मार्ग का प्रचार किया। उसमें स्त्रियों को पूर्ण दीक्षा देना, क्षुल्कों की वीर चर्या, मुनियों को कडे बालों की पांची रखना और रात्रि भोजन त्याग नामक छड़े गुणव्रत का विधान किया। उन्होंने आगम, शास्त्र, पुराण, प्रायश्चित्त ग्रंथों को कुछ ओर ही प्रकार रचकर मूर्ख लोगों में मिथ्यात्व का प्रचार किया। इस संघ में गोपुच्छ की पिच्छी रखने के कारण इसे गोपुच्छ संघ कहा जाता है।

## ( 2 ) श्वेतांबर संघ

श्वेतवस्त्रधारी, श्री मुक्ति, केवली कवलाहारी आदि को मानने वाले प्रसिद्ध श्वेताम्बर संघ सुपरिचित है। इसलिये उसका विशेष कथन नहीं कर रहे हैं।

( 3 ) द्राविड संघ

सिरि पुज्जपाद सीसो दाविड संघस्स कारगो दुद्धो।  
णामेण वज्जणंदी पाहुड वैदी महासत्तो ॥ 24॥ दर्शनसार

अणा सुध चण्याणं मवरवणदो वजिजदो मुणिंदेहि ।  
 परिक्षये विवरीयं वगगं चोजजं ॥ 25 ॥  
 वीणसु णतिय जीवो उभसणं णतिय फासुगं णतिय ।  
 सावजजं ण हु मण्णइ ण गणइ गिह कप्पियं अहं ॥ 26 ॥  
 कच्छं खेतं वसहि गणिज्जं कारिकूण जीवतो ।  
 णहंतो सीयलणीरे पावं पडइं स संजदि ॥ 27 ॥  
 पंवसय छब्बीसे विककम रायस्स मरणपतस्स ।  
 दक्षिक्षण महराओ द्वाविड संघो महामोहो ॥ 28 ॥

श्री पूज्यपाद या देवनंदि आचार्य के शिष्य दुष्ट ब्रजनंदि द्राविड़ संघ को उत्पन्न करने वाले हुए। ये प्राभृत ग्रन्थों के ज्ञाता और महान् सत्त्वधारी थे। मुनिराजों ने उन्हें अप्रासुक या सचित्त चनों को खाने से रोका परंतु वे नहीं माने और भ्रष्ट होकर विपरीत प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थों की रचना की। उनके मतानुसार बीजों में जीव नहीं होते, मुनियों को खड़े होकर भोजन लेने की विधि नहीं है कोई वस्तु प्रासुक नहीं है। वह सावद्य भी नहीं मानते थे और गृह कल्पित अर्थ को भी नहीं मानते थे। कछार क्षेत्र वसतिका और वाणिज्य आदि कराके जीवन निर्वाह करते हुए और शीतल जल में स्नान करते हुए उन्होंने प्रचुर पापों का संग्रह किया। विक्रम राजा की मृत्यु के 526 वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा में यह महामोहरूप द्राविड़ संघ उत्पन्न हआ।

#### ( 4 ) यापनीय संघ

कल्लाणे वरणयरे सत्तसय पंच उत्तरे जादे।  
जावणिय संघ भावो सिरीकलसादो हु सेवडदो ॥ 29 ॥ दर्शनसार

यापनीयास्तु वेस्त्रा इवोभयं मन्यन्ते, दत्तक्रयं, पूजयन्ति, कल्पयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं केवलि जिनानां कवलाहारं, पर थासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति ।

कल्याण नगर में विक्रम राजा की मृत्यु के 705 वर्ष बीतने के बाद तथा दूसरी प्रति के अनुसार 205 वर्ष बीतने के बाद श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु द्वारा यापनीय संघ का उद्भव हुआ। यापनीय संघवाले दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों को मानते हैं, रत्नत्रय को पूजते हैं, कल्पश्रुत को पढ़ते हैं, स्त्रियों का उसी

भव में मोक्ष मानते हैं, केवलियों को कवलाहार मानते हैं, परमत वालों को (मिथ्यात्व वादियों को) और परिग्रह धारियों को भी मोक्ष बताते हैं।

तर्हो दसए तीदे महाराए माहराण गरुणाहो ।

ણામેણ રામસેણો ણિપિલં વળિણયં તૈણ ॥ ૫૦ ॥

सम्मत पर्याप्ति भिन्नतां कहियं जं जिणिंद विद्वेस ।

अप्य यदिणिद्विषय ममता बृजीए परिवसरण ॥ 41 ॥

एसो मम होऊ गसो अवरो णाथि ति चित्त परियरणं

सग गरु कलाहि माणो इयरेस विभंग करणं च ॥ ४२ ॥

काषासंघ के 200 वर्ष पश्चात् विक्रम सं. 953 में मथुरा नगरी में माथुर संघ के प्रधान गुरु रामसेन हुए। जिन्होंने निपिछ रहने का उपदेश दिया। उन्होंने अपने और पराये प्रतिष्ठित किए हुए जिनबिम्बों की ममत्व बुद्धि के द्वारा न्यूनाधिक भावों से पूजा वंदना करने एवं यह मेरा गुरु है दूसरा नहीं है इसप्रकार के भाव रखने और अपने गुरु कुल का अभिमान करने और दूसरे गुरुकुलों का मान भंग करने के लिये सम्यकत्व प्रकृति रूप मिथ्यात्व का उपदेश दिया।

पिक्के ण ह सम्बतं कर गहिए मोर चमर इंबरए।

अप्पा तारड़ि अप्पा तम्हा अप्पा वि झायब्बो ॥ १ ॥

सेयं वरो य आसं वरो य बज्जो य तह अण्णो य ॥

समभाव भावियता लहेय मोक्खं ण संदेहो ॥ २ ॥

मोर पंख या चमरी गाय के बालों की पिच्छी हाथ में लेने से सम्यक्त्व नहीं है। श्वेताम्बर हो या दिग्म्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई भी हो, समभाव से भायी गयी आत्मा ही मोक्ष प्राप्त करता है इसमें संदेह नहीं।

इस संघ का मत वस्तुतः स्वच्छद शिथिलाचारी निश्चयाभासीय है क्योंकि प्रत्येक कार्य बाह्यभूत्तर कारण से होता है।

जैसा कि तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में कहा है कि  
वायेतरोपाधि समग्रतयं, कार्यषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

बाह्यत्यादि। बाहुं च इतरश्चाभ्यन्तरः तौ च तौ उपाधान सहकारि  
कारणे तयोः समग्रता संपूर्णता। इयं प्रतीयमाना क्वचिः कार्येषु घटादिषु ते तव  
मते। कथम्भूता सा? द्रव्यगतः स्वभावः जीवादि पदार्थगतमर्थक्रियाकारिस्तवरूपं।  
अन्यथा एतमात्तत्त्वमग्रता तत्त्वभावता प्रकारात् अन्येन तदस्त्वभावता प्रकारेण।  
नैव मोक्ष विधिश्च। च शब्दोऽपि शब्दार्थः। न केवलं घटादि विधानं नैवाव्येन  
प्रकारेण घटते किंतु मोक्षविधिरपि। पुंसां मुक्त्यर्थिनां। यत एवं तेज़ कारणेन  
अभिवृद्धस्तं बुधानां गणधर देवादीनां विपक्षितांम्। कथम्भूतः? ऋषिः परमद्विः  
सम्पन्नः॥ (प्रभावचन्द्र की टीका)

बाह्य कारण अर्थात् निमित्त कारण एवं आभ्यन्तर कारण अर्थात् उपादान  
कारणों की परिपूर्णता से ही कार्य की उत्पत्ति होना यह द्रव्य का स्व स्वभाव है  
अर्थात् जीवादि पदार्थगत अर्थ क्रिया कारित्व के लिये दोनों कारणों का समन्वय  
होना अनिवार्य है। जैसे घट रूप कार्य के लिये योग्य मिट्ठी उपादान कारण है एवं  
कुंभार, चक्र, पानी, चीवर आदि बाह्य कारण हैं। यदि केवल योग्य मिट्ठी है परन्तु  
बाह्य योग्य कुंभारादि कारणों का अभाव होने पर जिसप्रकार मिट्ठी घट रूप में  
परिणमन नहीं करती है उसी प्रकार योग्य कुंभारादि के सद्भाव होने पर भी  
योग्य मिट्ठी के अभाव में भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि इसी प्रकार  
नहीं मानेंगे तो प्रत्यक्ष आगम विरोध प्राप्त होगा। बाह्य निमित्त कारण के अभाव  
से भी मिट्ठी स्वयमेव ही घट बनती है ऐसा मानने पर समस्त मिट्ठी स्वयमेव घट  
रूप परिणमन हो जाना चाहिये। किन्तु इसप्रकार उपलब्ध नहीं है और अनुपलब्ध  
को ही उपलब्ध मानना मिथ्यात्व है। उसी प्रकार केवल बाह्य निमित्त से कार्य  
होता है तो कुंभारादि बाह्य निमित्त से घट बनता है। मिट्ठी मानने पर मिट्ठी की  
आवश्यकता नहीं होती तथा कुंभारादि के हाथ, पैर आदि ही घट रूप परिणमन  
कर जाना चाहिए किन्तु ऐसा भी उपलब्ध नहीं है। केवल लौकिक घटादि कार्य के  
लिये दोनों कारणों का सद्भाव चाहिये ऐसा नहीं किन्तु अलौकिक अभूतपूर्व  
महान् कार्य मोक्ष के लिये भी दोनों कारणों का समन्वय अनिवार्य है।

मोक्ष के लिये रत्नत्रय परिणत स्वात्मा उपादान कारण है एवं बाह्य द्रव्य,  
क्षेत्र, कालादि, निर्ग्रन्थ, मुनि लिंग आदि निमित्त कारण है। अन्तरंग परिणाम एवं  
ब्रह्मरंग साधनों के माध्यम से मोक्ष रूप कार्य सिद्ध होता है। आध्यात्मिक सम्प्राट

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् 96 ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

मूल आमाय के कर्णधार कुन्दकुन्द आचार्य अष्टपाहुड में कहते हैं

णवि सिज्जदि वर्तधरो जिणसासणे जह वि होइ तित्थयरो।

णगो विमोक्षमगो सेसा उम्मग्या सज्जे ॥ 23 ॥

जिन शासन में वस्त्रधारी तीर्थकर को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।  
एक केवल निर्ग्रन्थता ही मोक्ष मार्ग है अन्य सर्व उन्मार्ग हैं, कुमार्ग हैं। जैसे  
आचार्य कहते हैं –

कारण द्वयं साध्यं न कार्यमेकेन जायते।

द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पदते वर्षित ॥

जो कार्य दो कारण से होता है वह एक कारण से नहीं हो सकता है। जैसे  
पुत्र उत्पत्ति रूप कार्य माता पिता रूप दो कारणों से होता है। इसीप्रकार अन्तरंग  
चारित्र एवं बाह्य चारित्र रूप कारण से ही मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य हो सकता है  
अन्यथा नहीं।

इन ऐतिहासिक पंथ भेदों में मूल कारण शिथिलाचार, मनोकलिपत सिद्धांत,  
हठग्राहितावादी है। यदि अंतरंग में परिग्रह की इच्छा नहीं है तो बाह्य में परिग्रह  
कदापि नहीं हो सकता। यदि बाह्य में परिग्रह है तो अन्तरंग में मूर्च्छा है ही।  
इसीप्रकार प्रायः एकान्त निश्चय आध्यात्मवादी करण चरण को छोड़कर स्वच्छन्द  
होकर संसार वृद्धि करते हैं। इसप्रकार देवसेन आचार्य ने दर्शनसार में दर्शन  
विषयक कलंक धोकर निर्मल दर्शन प्राप्त करने का वर्णन किया है।

### ( 2 ) नयचक्र

वर्तमान उपलब्ध नय विषयक स्वतंत्र कृति आचार्य देवसेन की है। आचार्य  
देवसेन द्वारा नय चक्र में गाथाएँ प्राकृत भाषा में हैं। इस नय चक्र में आचार्य श्री  
ने सम्पूर्ण नयों का आगमानुसार संक्षिप्त वर्णन किया है। आचार्य श्री अपने काल  
में नय विषयक ज्ञान में अत्यन्त दक्ष थे। द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नय चक्र के कर्ता  
माइल्ल ध्वल ने देवसेनाचार्य कृत नय चक्र के अवलम्बन से ही नय चक्र की  
रचना की।

सिय सघसुणय दुण्णदेह विदारणेक वर वीरं।

तं देवसेण देवं णयचक्रयरं गुरुं णमह ॥ 423 ॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् 97 ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात्

गवा माहात् पायासं दीहय तंधेण आसि जं दिदुं ॥  
तैः माहा तंधेण रद्यं माइल्ल धवलेण ॥ 424 ॥  
सुप्रीरणेण पोतं पेरयं संतं जहा तिरणदुं ।  
सिरिदेवसेण मुणिणा तह णय चक्ष पुणो रद्यं ॥ 425 ॥

स्थात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नय रूपी दैत्य के शरीर को विदारण करने में एक मात्र वीर नय चक्र के कर्ता उन देवसेन नामक गुरुदेव को नमस्कार हो। इससे सिद्ध होता है कि देवसेनाचार्य नय विषयक मर्मज्ञ महाप्राज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने सुनय चक्र के माध्यम से दुर्नय रूपी मोहान्धकार स्वरूप दैत्य का नाश किया था अर्थात् जैन धर्म का सम्यक् प्रचार-प्रसार उन्नयन किया था ॥ 423 ॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक दोहा में रचा हुआ था उसको माइल्ल धवल ने गाथा बद्ध किया ॥ 424 ॥

अनुकूल वायु के द्वारा प्रेरित हुआ जहाज तैरने में समर्थ होता है वैसे ही श्री देवसेन मुनि ने नयचक्र पुनः रचा। इससे सिद्ध होता है कि उस समय की परिस्थिति से प्रेरित होकर आचार्य श्री ने पुनः नयचक्र को रचा। अन्य प्रति में स्थित अन्य गाथा—

दुसमीरणेण पोतं पेरियसंतं जहा तिरं नदुं।  
सिरि देवसेन मुणिण तह णय चकं पुणो रद्यं ॥

दुष्म काल रूपी आँधी से संसार सागर से पार उतारने वाले जहाज के समान जो नय चक्र चिरकाल से नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनि ने पुनः रचा। इससे सिद्ध होता है कि नयचक्र विषयक उससमय शास्त्र था परंतु दुष्म काल के कारण वह शास्त्र नष्ट होने से धर्म वात्सल्य से प्रेरित होकर जिनशासन की रक्षा प्रसार-प्रचार के लिये एवं मिथ्या नयों का निरसन करने के लिये आचार्य श्री ने संसार से पार उतारने के लिये जहाज के समान, एक नवीन नय चक्र रचा।

जैन धर्म एक पंथवाद नहीं है। जैन धर्म वस्तु स्वभाव सहज सरल स्वभाव प्राकृतिक धर्म है। वस्तु सत् स्वरूप होने से त्रिकाल अबाधित एवं शाश्वत है। वस्तु अनादि अनंत है एवं जैन धर्म वस्तु स्वभाव धर्म है उसी कारण जैनधर्म शाश्वतिक अनादि अनंत प्राकृतिक सहज सरल धर्म है। प्रत्येक वस्तु में अनंत गुण

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात्

पर्याय होने से प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। इसलिये जैन धर्म भी अनेकान्तात्मक है। अनंत गुण पर्यायात्मक वस्तु को जानने के लिये अनंत ज्ञान भी चाहिये। जो अनंतज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हैं वे ही वस्तु को पूर्ण यथार्थ रूप से जान सकते हैं अन्य कोई असर्वज्ञ नहीं जान सकते हैं। सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान सम्याज्ञान होने से वस्तु जैसी है उसीप्रकार है परंतु दिव्यध्वनि में युगपत् सम्पूर्ण गुण पर्यायों का वर्णन नहीं हो सकता इसलिये दिव्यध्वनि भी नयात्मक है। जैसे कि स्याद्वादसूरि सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में कहा है

तिथयर वयण संगह विसेस पत्थार मूल वागरणी।

द्वद्वियो य पञ्जवणयो य सेसा वियष्णा सिं ॥ 3 ॥

तीर्थकर के वचन सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य रूप से मूल व्याख्यान करने वाला वचन द्रव्यार्थिक नय है। विशेष रूप का प्रतिपादन करने वाला मूल व्याख्यान पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दो नयों के भेद हैं। इसलिये द्रव्यार्थिक अर्थात् निश्चय नय भी सत्य है उसीप्रकार स्वस्थान में पर्यायार्थिक नय भी सत्य है।

नयः-

जं णाणीण वियष्णं सुयणाणं वर्तुं अंसं संगहणं।

तं इह णयं पउत्तं णाणि पुण तेहि णाणीहि ॥ 2 ॥ नयचक्र

जहा ण णएण विण होइ णरस्स सियगाय पडिवती।

तहा सो बोह्वो एअंतं हंतुकामेण ॥ 3 ॥

नयः— ज्ञानी का जो विकल्प है उसे नय कहते हैं अथवा श्रुतज्ञान के भेद को नय कहते हैं अथवा वस्तु के एक अंश ग्राही को ज्ञानियों ने नय कहा है। इसलिये नय न पूर्ण ज्ञान है न अज्ञान है परंतु ज्ञानांश है। नय में द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और नय अन्यथा वस्तु का प्रतिपादन करता है केवल वस्तु अंशग्राही होता है।

नय के बिना स्याद्वाद की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये स्याद्वाद सिद्धि के लिये एवं एकान्त खण्डन के लिये नय विषयक ज्ञान अनिवार्य है क्योंकि “णयमूलो अणेयंतो” अनेकांत का मूल नय है।

वस्तु अनेकांत स्वरूप है। अनेकांत को जानने पर ही वस्तु के स्वरूप को

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात्

जान सकते हैं। जब वस्तु के स्वरूप को जानेंगे तभी सम्यगदृष्टि हो सकते हैं। जब सम्यग्दृष्टि होंगे तभी मोक्ष मार्गी होंगे।

तैय णयस्ति विहीणा तेसिं ण हु वत्युरुव उवलद्धि ।

गमु सहाव विहूणा सम्माइद्धी कहं हुंति ॥ 10 ॥

व्यवहार दृष्टि से विहीन व्यक्ति वस्तु स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता है वस्तु स्वभाव रहित जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है ॥ 10 ॥

एअंतो एअणओ होइ अणेयंतमस्स सम्भूहो ।

तं खलु णाणवियप्पं सम्मं मिलुं च णायबं ॥ 9 ॥

एक नय एकांत स्वरूप है, सम्पूर्ण नयों का सम्यक् समन्वय अनेकांत है। नय और अनेकांत दोनों ज्ञान के विकल्प हैं तो भी एकांत नय मिथ्या है और अनेकांत सम्यक् है। वह भले द्रव्यार्थिक या निश्चय नय हो अथवा पर्यायार्थिक या व्यवहार नय हो ये दोनों निरपेक्ष होने से दोनों मिथ्या एवं अवस्तु स्वरूप हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में कहा है,

दब्दिय वत्यं अवत्पु अवत्पु णियमेव पञ्जव णयस्स ।

तह पञ्जव वत्पु अवत्पुमेव दब्दिय णयस्स ॥ 10 ॥

द्रव्यार्थिक नय का सामान्य कथन पर्यायार्थिक नय के लिये नियम से अवास्तविक है। इसीप्रकार पर्यायार्थिक नय का विषय द्रव्यार्थिक नय के लिये अवास्तविक है। क्योंकि विवक्षा भेद से दोनों नयों के विषय भिन्न भिन्न हैं। दोनों ही नय एक ही वस्तु के विभिन्न स्वरूप को ग्रहण करते हैं।

कथञ्चित् – दोनों नय परस्पर एक दूसरे के विषय को ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि दोनों नय सापेक्ष हैं। द्रव्यार्थिक नय सामान्य है और पर्यायार्थिक नय विशेष है। अतएव एक दूसरे के विषय को अवस्तु मानने के कारण ये दोनों नय भिन्न हैं। उदाहरण स्वरूप समयसार में कुन्द कुन्द देव कहते हैं।

ववहारेणु वदिसङ्ग णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुच्छो ॥ 7 ॥

From the vyavahara point of view, conduct, belief and knowledge are attributed ( as different characteristics) of the knower, the self. But from the real point of view there is no

( differentiation of) knowledge, conduct and belief, in pure self.)

व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानी का चारित्र, दर्शन, ज्ञान है किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा ज्ञानी का ज्ञान दर्शन चारित्र नहीं है केवल एक ज्ञायक शुद्ध स्वभाव है ॥ 7 ॥

इस गाथा में दोनों नयों का विरुद्ध विषय प्रतिपादन है। जैसे कि ज्ञानी का चारित्र आदि है किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञानी का चारित्र आदि नहीं है तो निश्चय नय की अपेक्षा चारित्र आदि नष्ट हो गए क्या ? यदि चारित्र आदि नष्ट हो जायेंगे तो आत्मद्रव्य ही नष्ट हो जाएगा, परंतु ऐसा है नहीं। सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा चारित्र आदि भेद हैं तथा शुद्ध नय की अपेक्षा अभेद से एक ज्ञायक स्वभाव में अन्तर्भूत किया गया है। व्यवहार अपेक्षा तीन भेद होकर परस्पर अलग—अलग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहते हैं क्या ? नहीं परंतु गुण—गुणी भेद से भेद है। इसप्रकार दोनों नयों का परस्पर विरोध और समन्वय हुआ। दूसरा उदाहरण—

“सबे सुद्धा हु सुद्ध णया” शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से प्रत्येक जीव, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, अनंत दर्शन ज्ञान स्वरूप है परंतु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अभव्य लब्ध्यपर्यासक जीव अनंत मोही, अज्ञानी, दुःखी है। द्रव्य दृष्टि से वह भी सिद्ध के समान होते हुए भी पर्याय रूप से वह कभी सिद्ध हो सकता है क्या ? कदापि नहीं। इससे सिद्ध होता है कि निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय भी मिथ्या है परंतु शक्ति रूप से उस अभव्य में जो गुण हैं वे क्या सर्वथा कभी लोप हो सकते हैं ? कभी नहीं। यदि लोप होंगे तो जीव ही अजीव बन जायेगा ऐसा कभी संभव नहीं है। इसलिये वस्तु का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये एवं धर्म प्रचार-प्रसार के लिये, आत्म उद्धार के लिये दोनों नयों की परम आवश्यकता है। यथा—  
निश्चय-व्यवहार नय

जइ जिणमयं पवज्जइ ता वा ववहार णिच्छए मुयह ।

एकेण विणा छिज्जइ तित्यं अण्णेण उण तच्चं ॥

यदि जिन धर्म का प्रचार-प्रसार, प्रवर्तन करना है एवं आत्म उद्धार करना है तो केवल एकांत व्यवहार के पक्षपाती मत बनो इसी प्रकार केवल

एकात् निश्चय के भी पक्षपाती मत बनो। यदि व्यवहार को नहीं मानेंगे तब संसार से उत्तीर्ण होने के रूप जो व्यवहार तीर्थ है उसका लोप हो जायेगा और जिसके कारण आलोपलब्धि रूप निश्चय धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि निश्चय को नहीं मानेंगे तो व्यवहार धर्म के माध्यम से जिस परम तत्त्व को प्राप्त करना है उस परम तत्त्व का लोप हो जायेगा फिर उस व्यवहार धर्म के द्वारा किस तत्त्व को प्राप्त करेंगे?

समयसार के गुप्त रहस्य को उद्घाटित करने वाले, कुंदकुंद साहित्य रूपी सागर में अवगाहन करने वाले समयसार के आद्य टीकाकार आध्यात्मिक संत अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार में कहते हैं :—

**निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गं द्विधा स्थितः।**

**तत्राद्यः साध्यतपः स्याद् द्वितीयस्तात्य साधनम्॥**

मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। (1) निश्चय मोक्षमार्ग (2) व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रूप है जिसे प्राप्त करना है जो कार्य स्वरूप है। द्वितीय व्यवहार मोक्षमार्ग साधन स्वरूप है। जिसके द्वारा साध्य रूप निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है। समर्थ कारण से कार्य होता है अर्थात् साधन से साध्य सिद्धि होती है इस न्यायानुसार व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा निश्चय मोक्ष मार्ग की उपलब्धि होती है। व्यवहार मोक्षमार्ग बिना निश्चयमोक्ष मार्ग त्रिकाल में अनुपलब्ध ही रहेगा।

पंडित शिरोमणि, चतुरानुयोग पारंगत, निश्चय व्यवहारज्ञ, आर्ष परम्परा संरक्षक, संस्कृत के महान् ग्रन्थधर्मामृतादि अनेक मौलिक कृति के रचयिता आचार्य कल्प आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत में लिखा है—

**व्यवहार परातीनः निश्चयं यः विकीर्षति।**

**वीजादि बिना मूढः सः शस्यानि सिसृक्षति॥**

व्यवहार से विमुख होकर जो निश्चय को चाहते हैं वे मूढ़ हैं जैसे कि एक मूढ़ बीज के बिना वृक्ष को चाहता है अर्थात् जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसलिये अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ में कहते हैं—

**व्यवहार निश्चयौ यः प्रवृद्धं तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।**

**प्राज्ञोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ 8 ॥**

जो व्यवहार और निश्चय में ज्ञानी होकर अर्थात् दोनों नयों को अच्छी तरह समझकर कोई भी नयों का पक्षपाती नहीं होकर मध्यस्थ होते हैं अर्थात् यथायोग्य दोनों को मानते हैं वही योग्य शिष्य हैं, वही उपदेश प्राप्त करने के लिये योग्य हैं। अन्य हठग्राही, पक्षपाती, जन उपदेश के पात्र नहीं हैं।

देवसेन आचार्य नय चक्र को समाप्त करते हुए लिखते हैं—

**जह इच्छह उत्तरिदुं अज्ञाण महोवहि सुलीलाए।**

**तो णादुं कुणह मदं णय चक्रके दुणय तिमिर मत्तण्डे ॥ 26 ॥**

यदि अज्ञान रूपी महासमुद्र को लीला से तरने की इच्छा है तो नय चक्र को जानने के लिये मति को नय चक्र में प्रवेश कराओ। दुर्नय रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिये सम्यक् नय सूर्य के समान है।

इसीप्रकार देवसेनाचार्य ने गुरु परंपरा से प्राप्त सम्पूर्ण नयों उपनयों का वर्णन इस लघुकृति नयचक्र में समावेश किये हैं। सुप्रसिद्ध नीति—‘गागर में सागर’ यहाँ लागू नहीं होती किन्तु ‘बिन्दु में सिन्धु’ यह नीति इस नय चक्र में लागू होती है। जिस अनेकांतवाद को बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य विनम्र नतमस्तक होते हैं। उस भगवंत अनेकांत को स्वलेखनी से जीवंत प्रकट करने वाले पूज्यपाद देवसेन आचार्य को मेरा विनम्र अनंत नमस्कार हो।

**( 3 ) आलापपद्धति-**

देवसेन आचार्य की तीसरी कृति संस्कृत सूत्र बन्ध विषयक शास्त्र आलाप पद्धति है। बहुशः देवसेन आचार्य ने नयचक्र लिखने के पश्चात् आलाप पद्धति की रचना की उसकी निम्नसूत्र से पुष्टि होती है।

**आलाप पद्धतिर्वचन रचनाऽनुक्रमेण नय चक्रयोपरि उत्थते ॥ 1 ॥**

आलाप पद्धति अर्थात् वचन की पद्धति नय चक्र के आधार पर मैं (देवसेन आचार्य) कहता हूँ। इसको पुनः स्वतंत्र लिखने का कारण मंद बुद्धि जनों के सुख बोधन के लिये है आचार्य श्री ने आलाप पद्धति की समाप्ति में कहा है।

इति सुख बोधार्थमालाप पद्धतिः श्रीमद् देवसेन विरचिता परि समाप्ता।

इसमें गुण, पर्याय, स्वभाव, नयों, उपनयों का अनूठा वर्णन है। इसमें आध्यात्मिक नयों, आगम नयों का वर्णन है। जैसे—

णित्य ववहार णया मूलमभेया णयाण सवाणं ।

णित्य साहण हेऽ दवय यज्जतिया मुणह ॥ ५ ॥ आलाप पञ्चति

सामान्य रूप से समस्त नयों के दो भेद हैं (1) निश्चय नय (2) व्यवहार नय। उनमें से निश्चयनय की सिद्धि के लिये द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक ये दोनों नय कारण हैं ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है।

आध्यात्मिक दृष्टि से नय के दो प्रकार हैं। (1) निश्चय (2) व्यवहार ।

तत्र निश्चयनयोऽभेद विषयो, व्यवहारो भेद विषय ॥ २१६ ॥

(1) निश्चय नय : अभेद विषयो ज्ञेयः यस्य सः निश्चय नयः ।

(2) व्यवहार नय : भेदेन ज्ञातुं योग्यः सो व्यवहार नयः ।

निश्चय नय का विषय अभेद है। व्यवहार नय का विषय विशेष भेद स्वरूप है। जैसे: गुण—गुणी, पर्याय—पर्यायी, धर्म—धर्मी भेद नहीं करके अभेद रूप से जो नय ग्रहण करता है उसको निश्चय नय कहते हैं। जैसे:- आत्मा गुणी, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं। उन ज्ञान—दर्शनादि को अभेद करके केवल आत्मा ग्रहण करना निश्चय नय है। आत्मा में ज्ञान, दर्शनादि हैं इसीप्रकार भेद करके अथवा आत्मा ज्ञानवान्, दर्शनवान् ग्रहण करना व्यवहार नय का विषय है। सामान्य से आत्मा एक होते हुए भी ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि से अनेक हैं इसलिये दोनों नय स्वक्षेत्र में यथार्थ हैं।

### आध्यात्मिक नय

#### ( 4 ) श्रुतभवन दीपक नय चक्र :-

नय चक्र धुरन्धर आचार्य देवसेन ने पूर्वोक्त दोनों नय विषयक शास्त्रों में मुख्यतः आगम भाषा में तथा गौण रूप से आध्यात्मिक भाषा में नयों का वर्णन किया है। आगमज्ञ होने के पश्चात् आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करने के लिये आचार्य श्री ने “ श्रुत भवन दीपक नय चक्र ” का प्रतिपादन किया है। यह नय चक्र संस्कृत गद्य पद्यात्मक शैली में है। देवसेनाचार्य ने शास्त्र प्रारंभ में इष्ट देव वर्धमान स्वामी को नमस्कार पूर्वक श्रुतभवन दीपक नय चक्र को प्रतिपादन करने के लिये प्रतिज्ञा की है। आचार्य श्री मंगलाचरण में ही प्रतिज्ञा की कि—

“गाथार्थस्याविरोधेन नयचक्र मयोच्यते” अर्थात् मैं गाथा के अर्थ से अविरुद्ध

नय चक्र को कहता हूँ। एक छंद में कहते हैं :-

जिनपतिमत महां रामैश्लादपाण  
दिह हि समयसाराद्बुद्ध बुद्धया गृहीता ।  
प्रहत घन विमोहं सुप्रमाणादित्वं  
श्रुतभवनसुदीपं विद्धि तद्वापनीयम् ॥२॥

जिनेन्द्र भगवान् के मतरूपी भूमि में समयसार रूपी निर्दोष पवित्र रत्नपर्वत को बुद्धि के द्वारा अच्छी तरह समझकर, गाढ़ मोह को नष्ट करने वाले तथा सम्यक् प्रमाणादि रत्नोंवाले “श्रुत भवन दीपक नय चक्र” को प्रकाशमान करने के उद्देश्य से लिखता हूँ।

इसके पश्चात् समयसार की ११, १२, १४३ वीं गाथाओं का उल्लेख किया है।

व्यवहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्ध णओ ।  
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादित्वी हवदि जीवो ॥ ११ ॥

प्रथम व्याख्यान की अपेक्षा :-

व्यवहार नय अभूतार्थ है किन्तु शुद्ध निश्चय भूतार्थ है। भूतार्थ का अवलम्बन लेकर जीव सम्यग्दृष्टि होता है। १ १ ॥

द्वितीय व्याख्यान की अपेक्षा

द्वितीय व्याख्यानेन पुनः व्यवहारो अभूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः। न केवल व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्ध निश्चयनयोऽपि दु शब्दाद्यां शुद्धनिश्चयनयोऽपीतिव्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नय चतुष्यं। ( श्री ज्येष्ठनाचार्यकृत् तात्पर्य वृत्ति )

व्यवहारनय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है ऐसे दो प्रकार का कहा गया है। अब केवल व्यवहार नय ही दो प्रकार का नहीं है किन्तु ( सुद्धणओ ) निश्चय नय भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चय के भेद से दो प्रकार है ऐसा गाथा में आये हुए ‘दु’ शब्द से प्रगट होता है ॥ १ १ ॥

अथ पूर्वगाथाया भणितं भूतार्थन्याश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्विति । अत्र तु न केवल भूतार्थो निश्चय नयो निर्विकल्प समाधिरत्नानां प्रयोजनवान् भवति ।

किन्तु निर्विकल्प समाधिरहितानां पुनः षोडषवर्णिका सुवर्णलाभालाभे अधस्तन वर्णिका सुवर्णलाभवत्केषांचित्प्रायमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात् विषय कषाय दुर्ध्यनि वंचनार्थं व्यवहारन्योऽपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति ( श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य वृत्ति)

यहाँ इस पूर्वोक्त गाथा में कहा गया है कि भूतार्थनय का आश्रय लेकर ही सम्यगदृष्टि होता है किन्तु इस गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहने वाले सम्यगदृष्टियों को भूतार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान हो ऐसा नहीं है परंतु उन्हीं निर्विकल्प समाधिरतों को किन्हीं किन्हीं को कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व विषय कषाय रूप दुर्धार्ण को दूर करने के लिये व्यवहार नय भी प्रयोजनवान होता है। जैसे किसी को सोलहवानी के सुर्वण का लाभ न हो तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह चौदहवानी का सोना भी सम्मत समझा जाता है। ऐसा कहते हैं—

सुज्जो सुज्जादेसो णायब्बो परमभाव दरिसीहि ।

ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे दिठदाभावे ॥ समयसार

सुद्धो थुद्धानयः निक्षयनयः कथंभूतः सुद्धादेसो थुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र  
स भवति थुद्धादेशः णादव्यो झातव्यः भावयित्वः कैः परम भाव दरसीहिं थुद्धात्मभाव  
दर्शिभिः कदमादिति चेत् यतः षोडषवर्णिका कार्त्तस्वरलाभवदभे द  
रलन्त्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्तयोजने भवति निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः ववहार  
देशिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण दर्शितः कथित इति व्यवहार देशितो  
व्यवहार नयः पुण पुनः अधस्तनवर्णिक सुवर्ण लाभवत्प्रयोजनवाङ् भवति । केषां  
जे ये पुरुषाः दु पुनः अपरमे अशुद्धे असंयत सम्यग्बृह्यापेक्षया श्रावकापेक्षया  
वा सरागसम्यग्बृहिलक्षणेशुभोपयोग परिणत प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च  
भेदरलन्त्रय लक्षणे वा तिदा रिथताः करिमन् स्थिताः? भावे जीव पदार्थ तेषामिति  
भावार्थः । (श्री जयदेवनाचार्य कृत तात्पर्य वक्तिः) अन्ते एव विश्वामिति

‘सुद्धोसुद्धादेसो’ शुद्धनिश्चयनय शुद्धद्रव्य का कथन करने वाला है (णादव्यो परम भाव दरसीहिं) वह शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है क्योंकि वह सोलहवानी स्वर्ण के समान अभेदरत्नव्य

स्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान् होता है। (ववहारदेसिदो किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहार नय है वह (पुण) पन्द्रह, चौदहवानी के स्वर्णलाभ के समान उन लोगों के लिये प्रयोजनवान् है। (जेदु) जो लोग (अपरमे ठिट्टा भावे) अशुद्ध रूप शुभोपयोग में स्थित, जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण वाला है और प्रमत्त अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रलत्रय लक्षणवाला है। ऐसा शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित है।

अथ नय पक्षातिक्रांतस्य युद्ध जीवस्य कि स्वरूपमिति पृष्ठे सति पुनर्विशेषण कथ्यति ।

दोणहपि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिवज्जो

ਣ ਦੁਣਾਧ ਪਕਰਖ ਗਿਣਹਦਿ ਕਿਚਿਤਿ ਣਪਕਰਖ ਪਰਿਹੀਣੋ ॥ 143 ॥ ਸਮਧਸਾਰ

योऽसौ नय पक्षपात रहितः स्वसंवेदन ज्ञानी तत्याभिप्रायेण बद्धाबद्ध  
मूढामूढादि नय विकल्प रहित चिदानन्दैक स्वभावं । दोषं कि ण्यायां भणियं जाणां  
यथा भगवान् केवलम् निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यं परयायि रूप  
जानाति, नवरि तु पडिबद्धो तथापि नवरि केवलं सहजं परमानन्दैक स्वभावस्य  
समयस्य प्रतिबद्धं आधीनः सबू ण्य पक्खं परिहीनो सततं समुलासन्  
केवलज्ञानस्तपतया श्रुतं ज्ञानावरणीयं क्षयोपशमजनित विकल्पजातं स्पान्यद्वय  
पक्षपाताद् दूरी भूतत्वात् ए दु ण्य पक्खं गृह्णाति किंचि वि न तु नय पक्षं विकल्पं  
किमप्यामरूपं तथा गृह्णाति तथायं गणधरदेवादिछ्नास्थजनोपिन्यद्वयोक्तं वस्तु  
स्वरूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानन्दैक स्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्धतः  
आधीनः सबू श्रुतज्ञानावरणीयं क्षयोपशमजनितविकल्पं जालस्तपान्य  
द्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चये नदूरीभूतत्वान्नयपक्षपातस्तपस्त्वीकार विकल्पं  
निर्विकल्पसमाधिकालेशुद्धात्म स्वरूपतया न गृह्णाति । अथं शुद्धं पारिणामिक  
परमभाव ग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिक नयेन नय विकल्प स्वरूप समरूप  
पक्षपातेनातिक्रान्तं एवं समयसारे इत्येवं तिष्ठति । ( श्री जयसेनाचार्य कृत  
तत्त्वपर्यं वृत्तिः )

‘दोषहवि यन्याण भणिय जाणइ’ जो कोई नयों के पक्षपात से दूर स्वसंवेदन

ज्ञानी है वह बद्ध अबद्ध मूढ़ अमूढ़ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानन्दमयी एक स्वभाव को उसीप्रकार जानता है जैसे भगवान केवली, निश्चयनय तथा व्यवहारनय के विषय द्रव्यपर्यायरूप अर्थ को जानते हैं। ‘णवरि तु समय पडिबद्धों’ किन्तु सहज परमानंद स्वभाव जो शुद्धात्मा उसके आधीन होते हुए केवली भगवान् (नय पक्ख परिहीणो) निरन्तर केवलज्ञान रूपमें वर्तमान होने से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले विकल्पजालरूप जो निश्चयनय और व्यवहारनय उन दोनों नयों के पक्षपात से रहित होने के कारण (ण दु नय पक्खं गिण्हदि किंचिवि) किसी भी नय के पक्षरूप विकल्प को कभी स्वीकार नहीं करते अर्थात् उसे छूते नहीं हैं। वैसे ही गणधरदेव आदि छद्मस्थ महर्षि लोग भी दोनों नयों के द्वारा बताये हुए वस्तु के स्वरूप को जानते अवश्य हैं फिर भी चिदानंदैकस्वभावरूपशुद्धात्मा के आधीन होते हुए अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने में लीन होते हुए श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विकल्पों के जाल रूप जो दोनों नयों का पक्षपात उससे शुद्ध निश्चय के द्वारा दूर होकर नय के पक्षपात रूप विकल्प को निर्विकल्प समाधिकाल में अपने आत्मरूप से ग्रहण नहीं करते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि निश्चयनय का अवलम्बन ध्यानावस्था में स्थित अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती महामुनि के लिये है, जब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक उस अवस्था को प्राप्त करने के लिये व्यवहारनय आवश्यक है व्यवहाररलत्रय का प्रतिपादक व्यवहारनय है एवं निश्चय रलत्रय का प्रतिपादक निश्चयनय है।

व्यवहारोऽसत्कल्पना निवृत्यर्थं सदृतन्त्रयं सिद्ध्यर्थं च । सदृतन्त्रयेण तु परमार्थं सिद्धिः । श्रूतमवन् दीपकं क्य चक्र)

व्यवहार से सद्कल्पना की निवृत्ति होती है एवं सद्रलत्रय की सिद्धि होती है।

स्वभाव सिद्धस्य परमार्थस्य कथं तेन सिद्धिरिति वक्ताव्यं । सद् त्त्वं ग्रायात्सर्वथा भेदे निश्चय भावः सर्वथात्वादभेद व्यवहारो मा भूदिति नयं चिद्गमेन तेन सिद्ध इति वचनं ( श्रुतभवन दीपक नया चक्र )

शंका :- स्वभाव सिद्ध परमार्थ की सिद्धि व्यवहार से कैसे हो सकती है ?

**समाधान** :— व्यवहार का सदूरलत्रय से सर्वथा भेद मानने पर निश्चय का भी अभाव हो जायेगा, तथा सर्वथा भेद को मानने पर भेद का व्यवहार भी नहीं हो सकेगा, कथञ्जित् भेद मानने पर ही उसकी सिद्धि होती है। ऐसा आचार्यों का वचन है।

एवमात्मा यावद् व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्त्वानुभवति तावत्परोक्षानुभूतिः। प्रत्यक्षानुभूतिर्क्यं पक्षातीता। (श्रूतभवन दीपक नव्यचक्र)

जब तक यह आत्मा व्यवहार और निश्चय इन नयों के द्वारा तत्त्व का अनुभव करता है, तब तक परोक्षानुभूति रहती है, प्रत्यक्षानुभूति नय पक्षातीत है।

तद्युर्वं द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ न ।

हये व्यवहार पूज्यतरत्वानिश्चयस्य त् पूज्यतमत्वात् । (श्र.न.ग.)

शंका :- यदि ऐसा है तो दोनों ही नय सामान्यरूप से ही पूज्यत्व को प्राप्त होंगे।

**समाधान :-** नहीं, व्यवहार नय तो पूज्यतर है, लेकिन निश्चय पूज्यतम है।

नय पक्षातीतः-

यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्या व्यवहारो निवर्तते तथा निश्चय व्यवहार विकल्पेति निर्वत्तते। यथा निश्चयनयेन व्यवहारो विकल्पोऽपि निर्वत्तते तथा स्वपर्यवसित भावेनेकत्वं विकल्पोऽपि निवर्तते। एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसित स्वभाव स एव न्या पक्षातीतः। (श्रू. दी. न्या)

जिसप्रकार सम्यक्व्यवहार से मिथ्याव्यवहार का निराकरण होता है, उसीप्रकार निश्चय के द्वारा व्यवहार का विकल्प भी निवृत्त होता है तथा जिसप्रकार निश्चय नय द्वारा व्यवहार का विकल्प निवृत्त होता है उसी प्रकार स्वपर्यवसित स्वभाव (परम निरपेक्ष स्वाश्रित स्वभाव) के अवलम्बन से एकत्व का विकल्प भी छूट जाता है। इस प्रकार जीव का जो स्वपर्यवसित स्वभाव है वह नय पक्षातीत है।

शुभाशुभ संवर हेतु क्रममाहः—

जह ग णिरुद्धं असुं सुहेण सुहमवि तहेव सुज्जेण।

तमा एण कमेण य जोई झाएउ णियआदं ॥ ३४७ ॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र ॥

जैसे शुभ के द्वारा अशुभ का विरोध होता है वैसे ही शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ कर्मों का भी विरोध होता है। इसलिये योगी को पहले अशुभ का त्याग कर शुभोपयोगी होना चाहिये। शुभोपयोग बढ़ते बढ़ते आत्म विशुद्धि बढ़ती है और शुद्धोपयोग में स्थिर हो जाता है तब शुभ कर्मों का भी संवर हो जाता है।

**अब्रती व्रतमादाय ब्रती ज्ञानपरायणः।**

**परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥ ८६ ॥ समाधि शतक**

अब्रती सराग चारित्र रूप मुनि धर्म को स्वीकार करके भेद ज्ञान सम्पन्न होकर आत्मा में लीन होता है उस समय स्वयमेव ही समस्त संकल्प विकल्प व्रत, अब्रत निश्चय व्यवहार से परे होकर निर्विकल्प रूप परमात्म स्वरूप बन जाता है। यह परमात्म पद प्राप्त करने का त्रिकाल अबाधित परम सत्य सिद्धांत है। अभी तक जो अनंत सिद्ध हुए, सिद्ध हो रहे हैं, आगे होंगे, वे सभी इसी मार्ग के द्वारा ही हुए हैं अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

**उदाहरणः—** आमरस का आस्वादन करना लक्ष्य है तो उसके लिये पहले बीज चाहिये। बीज, वृक्ष, योग्यावस्था प्राप्त होने पर वृक्ष में फूल आते हैं। फूल से कैरी, कैरी से अपक्व आम, उससे पक आम और उससे रस। उसके पश्चात् आस्वादन होगा। जिससमय रस का आस्वादन होता है उससमय न वृक्ष, न फूल न कद्मा आम न गुठली आदि रहती है, केवल वहाँ रस ही रस है। रसावस्था में अन्य प्रारंभिक अवस्थाएँ नहीं रहने पर भी बिना प्रारंभिक अवस्था के बिना रस की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदि विचार करें कि हमें तो रस चाहिये, बीज, वृक्ष, फूलादि नहीं चाहिये। बीज के बिना वृक्ष कैसे होगा, वृक्ष के अभाव में फूल कैसे होगा, फूल के बिना फल कैसे होगा? यदि हम सोचें कि फूल में आम रस नहीं है इसलिये फूल को तोड़कर फेंक दे तो फल की प्राप्ति हो सकती है क्या? फल के अभाव से रस की प्राप्ति कैसे होगी? परंतु बीज अंकुर होकर वृक्ष रूप परिणत हो जाता है तो बीज

स्वयमेव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार फूल से फल बन जाता है तब स्वयमेव फूल योग्य समय में गिर जाता है फूल तोड़ना नहीं पड़ता है। यदि योग्य समय के पूर्व ही फूल को तोड़ देंगे तो फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसीप्रकार निर्विकल्प आत्मानुभव रूप रस प्राप्त करने के लिये आत्मा रूप भूमि में सम्यक्त्व रूप बीज रोपण करना होगा। इसके लिये मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, अन्याय, अत्याचार, दुराचार, कुशील, अतिकांक्षा, शोषण, कालाबाजारी, संग्रहवृत्ति, परस्त्री गमन, वेश्यागमन, मद्यपान, मांसभक्षण, रात्रिभोजन, अभक्ष्यभोजन, ईर्ष्या—द्वेष, मात्सर्य, आदि अशुभ भावों का त्याग करके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समता शांति, क्षांति, क्रजुता, मृदुता, विश्वमैत्री, उदारता, वात्सल्य, गुणानुराग धर्मानुराग, अनुकम्पा आदि शुभ भावों को धारण करना होगा। इनमें सतत् तत्पर होने पर जब आत्मा में विशेष निर्मलता आती है, तब वह महासंयमी आत्मानंद रूप रस को निर्विकल्प होकर आस्वादन करता है। उससमय व्रत अब्रतों का विकल्प स्वयमेव छूट जाता है, जिस प्रकार रस अवस्था में पूर्व की अवस्थाएँ नहीं रहती हैं।

**शंका :-** आम के रस के लिये बीज, वृक्षादि की क्या आवश्यकता है? बाजार से पका आम खरीदकर लाकर उससे रस निकालकर अथवा रस खरीदकर रस का आस्वादन कर सकते हैं।

**समाधान:-** हे भाई धर्म कभी भी रूपये के माध्यम से नहीं खरीदा जा सकता है। धर्म को तो आद्योपान्त स्वयमेव ही आचरण करके प्राप्त कर सकते हैं आध्यात्मिक सप्राट अमृतचन्द्रसूरी अमृतकलश में कहते हैं :—

**य एव मुक्त्वा नय पक्षपातं, स्वरूप गुप्त निवासनि नित्यम् ।**

**विकल्प जालश्युत शांतचित्तात् एव साक्षाद्मृतं पिबन्ति ॥२४॥** अमृत कलश

जो समस्त प्रकार नय पक्षपात से रहित होकर समस्त संकल्प—विकल्प जालों से रहित होकर शांत चित्त स्वरूप में ही सतत निवास करते हैं वे साक्षात् आत्मानंद रूप अमृत का पान करते हैं। जो समयसार रूप शुद्धात्म द्रव्य है वह समस्त नय पक्ष से अतीत है।

देवसेनाचार्य इसीप्रकार आध्यात्मिक प्राधान्य नय चक्र को समाप्त करते हुए लिखते हैं—

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वं तत्त्वं तत्त्वं

निश्चयव्यवहारयोरविनाभावित्वं निर्णीति कथनो नामं तृतीयोऽध्यायः  
समाप्तः ॥ भट्टाक श्री देवलेन आचार्य

( कर्मस्त्रप शत्रु को नाश करने वाले विशेष ज्ञानी मुनि को भट्टारक  
कहते हैं । )

व्योम पंडित को प्रतिबोध करने वाले श्रुत भवन दीपक नय चक्र में निश्चय  
व्यवहार का अविनाभाव का कथन करने वाला तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ।

“निश्चयव्यवहारयोरविनाभावित्व” यह वाक्यांश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । समस्त  
आगम और आध्यात्मिक रहस्य को उद्घाटित करने वाली एक गुरु चाबी है  
अर्थात् निश्चय व्यवहार परस्पर विरोधी नहीं है दोनों परस्पर सापेक्ष, उपकारक,  
सहायक हैं । दोनों सापेक्ष होने पर ही सम्यक् हैं और निरपेक्ष होने पर दोनों मिथ्या  
हो जाते हैं ।

### ( 5 ) तत्त्वसारः

आचार्य प्रवर की अन्य एक ध्यान प्रधान कृति तत्त्वसार है । इस शास्त्र में  
गाथाएँ प्राकृत में हैं । इसमें 74 गाथाएँ हैं । इसमें स्वतत्त्व, परतत्त्व, सविकल्प  
तत्त्व, अविकल्प तत्त्व, अपरमतत्त्व, परमतत्त्वों का आध्यात्मिक भाषा में वर्णन  
है । आचार्य श्री ने हुण्डावसर्पिणी के पंचम कालस्थ वक्र-जड़ स्वभावी भ्रष्ट  
मिथ्यादृष्टियों की जो एक ध्यान संबंधी शंका है, उसका स्पष्टीकरण किया है ।  
यथा :-

### पंचमकाल में भाव लिंगी मुनियों का सद्भाव :-

संकांखा गहिया विसय वस्तथा सुमग्यब्रह्मा ।

एवं भण्ठि केई णहु कालो होइ ज्ञाणस्स ॥ 14 ॥ तत्त्वसार

संदेह शील, विषय सुख के प्रेमी, भोगों में आसक्त एवं विषय भोगों  
में अपना हित मानने वाले जिनेन्द्र प्रणीत रलत्रयसूपी सुमार्ग से भ्रष्ट कितने  
ही इसप्रकार कहते हैं कि वर्तमान पंचमकाल ध्यान योग्य काल नहीं है,  
इसकाल में मोक्ष नहीं है, ध्यान भी नहीं होता है, यदि मोक्ष की प्राप्ति नहीं  
होती है तो मुनि होकर क्या करना है । पूर्वोक्त समस्त प्रश्नों का समाधान  
करते हुए आचार्य कहते हैं :-

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा ज्ञाऊन जंति सुरलोयं ।

तथा चुया मण्युत्ते उप्पिजय लहहि णिल्वाणं ॥ 15 ॥ ( तत्त्वसार )

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वं तत्त्वं

आज भी इस पंचमकाल में रलत्रयधारी मुनि आत्मा का ध्यान कर स्वर्ग  
लोक को जा सकते हैं, वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव कुल में जन्म लेकर मुनि  
होकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकते हैं ।

### मुनि निवास :-

कलौः काले वने वासो वर्जनीयो मुनीश्वरैः ।

स्त्रीयते च जिनागरे ग्रामादिषु विशेषतः ॥ ( इन्द्रनन्दि नीतिसार )

कलिकाल में मुनिश्वरों को वनवास छोड़ने योग्य है, विशेषतः जिनमंदिर,  
ग्रामादिक में रहना चाहिये ॥

कुन्दाकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड में कहते हैं :-

भरहे दुस्समकाले धमज्ज्ञाणं हवेइ साहुस्स ।

तं अप्पसहाव ठिदेण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥ 76 ॥

अज्ज वि तिरयण सुज्ञा अप्पा ज्ञाए वि लहइ इदंतं ।

लोयंतियं देवतं ताथं तुआ णिल्वुदि जंति ॥ 77 ॥

भरत क्षेत्र में दुःष्मकाल में मुनियों को धर्मध्यान होता है, वे धर्मध्यान के  
माध्यम से आत्मा में स्थित रहते हैं, जो इसप्रकार नहीं मानता है वह भी अज्ञानी  
मिथ्यादृष्टि है ।

अभी भी सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र से शुद्ध मुनि आत्म ध्यान  
कर इन्द्रत्व एवं लौकान्तिक देव होते हैं, वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव पर्याय  
को प्राप्त कर मुनि होकर परम निर्वाण को प्राप्त करते हैं ।

शंका:- वर्तमान काल में मुनियों को शुक्ल ध्यान नहीं होता है तो क्या  
चारित्र भी नहीं हो सकता है ? “वीतराग चारित्राभावे कथंगौणत्वमित्या शंकाहः”

समाधान :- माइल्ल ध्वल “द्रव्य स्वभाव प्रकाशक” में इसका निर्णय  
करते हैं ।

मज्जिम जहाणुवक्सा सराय इत तीयराय सामग्नी ।

तम्हा सुद्धरितं पंचमकाले वि देसदो अति ॥ 344 ॥

“द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र”

जिस प्रकार सरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उल्कष भेद होते हैं । अतः

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वं तत्त्वं

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् तत्त्वं तत्त्वं

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

एक देश वीतराग चारित्र पंचमकाल में भी होता है।

श्री नागसेन मुनि भी कहते हैं :—

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्माः ।  
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां ॥ ८३ ॥  
यत्पुनः वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।  
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तनाधस्तानिषेधं ॥ ८४ ॥  
ध्यातारश्वेन सन्त्यग्यश्रुतं सागरपारगाः ।  
तत्किमल्पपश्चौर्नं ध्यातव्यं स्वशक्तिः ॥ ८५ ॥  
चरितारो न चैत्सन्ति यथारव्यातस्य संप्रति ।  
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥ ८६ ॥  
समग्रुष्टपदेशोन् समभयस्यनारातं ।  
धारणासौर्ण वादध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥  
यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि रिधराणिस्युर्महान्यपि ॥  
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभते ऽभ्यासवर्तिनां ॥ ८८ ॥

श्री जिनेन्द्र भगवान् ने इस पंचमकाल में यहाँ पर भरतक्षेत्र में शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है। उपशम-क्षपक श्रेणी से नीचे रहने वालों को धर्मध्यान होना बताया है। वज्रकायधारी उत्तम संहननवालों को जो ध्यान आगम में कहा है वह श्रेणी की अपेक्षा से कहा है। अधस्तन ध्यान के लिये निषेध नहीं है। यद्यपि वर्तमान में श्रुतकेवली समान ध्यानी मुनि नहीं हो सकते हैं, तो भी क्या अत्यश्रुत के ज्ञाताओं को अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिये? अर्थात् अवश्य करना चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्र में “शक्तितस्त्यागतपसी” शक्ति के अनुसार त्याग और शक्ति के अनुसार तपस्या करनी चाहिये कहा है। यद्यपि वर्तमान काल में यथारव्यात चारित्र के आचरण करने वाले नहीं हो सकते हैं, तो क्या तपस्वियों को यथाशक्ति सामायिक-छेदोस्थापनादि सरागचारित्र नहीं पालन करना चाहिये? अर्थात् अवश्य ही पालन करना चाहिये। जो साधक भली प्रकार गुरु के उपदेश से भली प्रकार आध्यात्मिक अभ्यास निरंतर करता रहेगा, तो उसकी धारणा उत्तम हो जायगी तो वह अनेक चमत्कारों को भी देख सकेगा। जैसे बड़े-बड़े शास्त्र भी अभ्यास के बल से समझने में आते हैं उसी प्रकार अभ्यास-

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

करने वालों का भी ध्यान स्थिर हो जाता है। इसलिये पंचमकाल में भी यथाशक्ति प्रमाद रहित होकर काम भोग, पंचेन्द्रिय के विषयों से स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादि से विरक्त होकर, ख्याति, पूजा लाभादि से रहित होकर धर्मध्यान पूर्वक आत्मध्यान करना चाहिये। इससे पाप कर्मों का संवर, निर्जरा होगी। निरिच्छक सातिशय पुण्य बंध होगा, जिससे परम्परा से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होगी। जैसे करोड़पति, अरबपति, स्वमूल धन के अनुसार व्यापार करते हैं, उसी प्रकार साधारण व्यक्ति भी स्वशक्ति अनुसार व्यापार करता है। अधिक धन नहीं रहने पर निरुद्धम होकर बैठा नहीं रहता है, यदि बैठा रहेगा तो पेट पोषण भी नहीं हो पायेगा, श्रीमंत होने की बात तो दूर रही। इसीप्रकार पंचम काल में स्वशक्ति अनुसार श्रावक दान पूजा, शील व्रत, उपवासादि जघन्य देश चारित्र पालन भी नहीं करेंगे तो पाप संचय के कारण नरक, निगोद ही मिलेगा, संसार वृद्धि होगी, मोक्ष तो अत्यन्त दूर की बात है, सुस्वर्ग की भी प्राप्ति नहीं होगी।

**पंचम काल में मुनियों की एक वर्ष की तपस्या चतुर्थकाल में 1000 वर्ष के समान हैं :-**

इस अत्यन्त विपरीत हुण्डावसर्पिणी रूप इस पंचम काल में अत्यंत दुर्द्वर महाब्रतादि धारण कर अत्यन्त भौतिक भोग विलासरूपी वातावरण में विचरण करना लोहे के चने चबाने के समान है। यह कोई बद्धों का खेल नहीं है, अथवा बहुरूपियों का खेल नहीं है, वाग्विलास नहीं है। वातानुकूल (एयरकण्डशन) कमरे में बैठकर वातानुकूल (स्वयं के अनुकूल बात) आध्यात्मिक, शुष्क बौद्धिक चर्चा नहीं है। जो धीर, वीर, है वही पंचम काल में जिनेन्द्र भगवान् का निर्ग्रन्थ लिंग को धारण कर सकता है।

सहणं अइणीं कालो सो दुस्समो मणो चवलो ।

तह वि हु धीरा पुरिसा महब्य भर घरण उच्छहिया ॥ १३० ॥ भावसंग्रह  
वरिस सहस्रेण पुरा जं कमं हणह तेण काएण ।

तं संपइ वरिसेण हु णिजरयइ हीण संहणणे ॥ १३१ ॥

इस पंचम काल में संहनन अत्यन्त हीन है, काल अत्यन्त दुःखम है, मन अत्यन्त चंचल है, तथापि जो धीर वीर पुरुष महाब्रत रूपी महाभार को धारण करने के लिये उत्साहित है वह महान् प्रशंसनीय वंदनीय, पूजनीय है।

A decorative horizontal border featuring a repeating pattern of stylized floral or geometric motifs, rendered in a dark grey color against a white background.

चतुर्थकाल में जिस उत्तम संहनन युक्त शरीर के माध्यम से तपश्चरण द्वारा जो कर्म एक हजार वर्ष में नष्ट होता था, उतना ही कर्म वर्तमान दुःखकाल में हीन संहनन युक्त हीन शरीर से एक वर्ष के तपश्चरण द्वारा नष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है, चतुर्थकाल अपेक्षा पंचमकाल में मुनिव्रत धारण, पालन तपश्चरणादि 1000 गुणा दुष्कर है। निर्ग्रथ रूप की दुर्धरता के लिये भगवान् जिनसेन स्वामी आदि पुराण में लिखते हैं:-

अशक्य धारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम्।  
जैनं निसंगता मृख्यं रुपं धीरैः निषेव्यते ॥

जिसमें यथाजात रूप अन्तरंग-बहिरंग ग्रन्थरहितता मुख्य है ऐसा निर्ग्रंथ लिंग उसीप्रकार दुर्धारा, दुरासाध्य, अत्यंत कठिन रूप को कातर, कायर, मन एवं इन्द्रियों के दास, भोगों के कीड़ों के द्वारा धारण करना अत्यन्त अशक्य है। जो धीर, वीर, गंभीर, दमी, यमी होते हैं उनके द्वारा ही निर्ग्रंथ लिंग धारण किया जा सकता है। जैसे-चक्रवर्ती के चक्र को कायर पुरुष प्रयोग नहीं कर सकता है, केवल वीर पुरुष पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकता है। उसीप्रकार इस निर्ग्रंथ रूप को धीर, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकते हैं।

अन्तर विषय वासना वरतैं बाहर लोक लाज भय भारी ।  
 यातै परम दिग्म्बर मुद्दा धर नहीं सके दीन संसारी ॥  
 ऐसी दुर्दर नगन परिषह जीतै साधु शील व्रतधारी ।  
 निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी ॥ 7 ॥

पंचमकाल के अंतिम समय तक भाव लिंगी मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रहेंगे, यह त्रिलोकसार में सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचंद आचार्य कहते हैं:-

अथ चरम कल्की स्वरूपं गाथा पञ्चकेनाहः—

इदि पडि सहस्र वर्सं तीसे कळीणदिक्कमे चरिमो ।  
 जल मध्यां भविस्सदि कळी सम्मग मंथणओ ॥ 857 ॥  
 इह इंद्राय सिस्सो तीरंगद साहु चरिम सब्बसिरी ।  
 अज्जा अग्निल सावय वरसाविय पंगुसेणावि ॥ 858 ॥  
 पंचम चरिमे पक्खड मासतिवासो वसेसए तेण ।  
 मृणिपटम पिंड गहणे सप्णसुण करिय दिवस तियं ॥ 859 ॥

सोहम्मे जायंते कृतिय अमवास सादि पूर्वण्हे।

इगि जलहि छिदी मणिणो सेसतिए सांहियं पत्तलं ॥ ८६० ॥

तत्पा सरस्स आदि मजङ्गाते धम्मराय अगीणं ॥

णासो तत्तो मणूसा णग्गा मच्छादि आहारा ॥ 861 ॥

इसप्रकार एक एक हजार वर्ष बाद एक एक कल्की होगा, तथा 20 कल्कियों के अतिक्रम अर्थात् पूर्ण होने के पश्चात् सन्मार्ग का मंथन करने वाला जलमंथन नाम का अंतिम कल्की होगा। उसीकाल में इन्द्रराज नामक आचार्य के शिष्य वीराङ्गन नामक अंतिम साधु, सर्वश्री नामक की आर्थिका, अग्निल नामक उत्कृष्ट श्रावक, पंगुसेना नामकी श्राविका होगी। पञ्चमकाल के अंत में तीन वर्ष, 8 माह और 1 पक्ष अवशिष्ट रहने पर उस कल्की द्वारा पूर्वोक्त प्रकार मुनिराज के हस्तपुट का प्रथम ग्रास शुल्क स्वरूप ग्रहण किया जाएगा। तब वे चारों तीन दिन के संन्यास पूर्वक कार्तिक वदी अमावस्या को स्वाति नक्षत्र, एवं पूर्वाह्न काल में मरण को प्राप्त हो सौधर्म स्वर्ग में मुनि तो एक सागर आयु के धारी, तथा शेष तीनों साधिक एक पत्त्य की आयु के धारी उत्पन्न होंगे। उसी दिन आदि मध्य और अंत में क्रम से धर्म, राजा एवं अग्नि का नाश हो जायगा। इसलिये उसके बाद मनुष्य मत्स्यादि का भक्षण करने वाले और नग्न होंगे।

पंचमकाल 21 हजार वर्ष प्रमाण है। वर्तमानकाल केवल वीर निर्वाण 2523 वर्ष (ई. स. 1997) प्रमाण व्यतीत हो रहा है। यह तो केवल पंचमकाल की शैशव अवस्था है अर्थात् प्राथमिक अवस्था है। अभी प्रायः 18477 वर्ष प्रमाण और भाव लिंगी मुनि रहेंगे। उपरोक्त सिद्धांत से ज्ञात होता है कि पहले धर्म का जीवन्त स्वरूप मुनि, आर्यका, श्रावक, श्राविका का पूर्णाह्न में अंत होगा, उनके अंत में धर्म का भी अंत होगा क्योंकि “न धर्मो धार्मिकैर्विना”। मध्याह्न में राजा का लोप, एवं सन्ध्याकाल में अग्नि का लोप होगा। इससे सिद्ध होता है कि भरत क्षेत्र में जब तक अग्नि है तब तक भाव लिंगी मुनि भी है। जो पंचमकाल में भाव लिंगी मुनियों का अस्तित्व नहीं मानता, वह जिनवाणी को नहीं मानता, जिनवाणी के न मानने के कारण मिथ्यादृष्टि है। भाव लिंगी मुनियों के सद्भाव के लिये स्वयं अग्नि ही साक्षीभूत है।

116

117

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

**धर्मादिक के नाश का कारण :-**

पोगल अङ्गुकवादी जलणं धम्मे णिरासाण हृदे।

असुर वडणा णरिदे सयलो लोओ हवे अंधो॥ 862॥

पुद्रगल द्रव्य में अत्यन्त रुक्षता आ जाने से अग्नि का नाश, समीचीन धर्म के आश्रयभूत मुनिराज का अभाव हो जाने से धर्म का नाश तथा असुरेन्द्र राजा का नाश हो जाने से सम्पूर्ण लोक अंधा हो जायेगा अर्थात् मार्गदर्शक कोई नहीं रहेगा।

आचार्यश्री ने अंत में आशीर्वादात्मक अपना नाम देकर इस शास्त्र की समाप्ति की है:-

सोऽण तत्त्वसारं रहयं मुणिणाह देवसेणेण।

जो सदिद्व्वी भावइ सो पावए सासयं सोकर्त्तं ॥ 74 ॥ (तत्त्वसार)

मुनिराज देवसेन रचित तत्त्वसार को सुनकर जो सम्यग्दृष्टि भावना करेगा, वह शाश्वतिक सुख को प्राप्त करेगा।

**( 6 ) आराधनासार :-**

आचार्य श्री के द्वारा प्रतिपादित आराधनासार में प्राकृत गाथाएँ 1 1 5 हैं। इसमें निश्चय एवं व्यवहार दोनों आराधनाओं का संक्षिप्त एवं मौलिक वर्णन है। निश्चय आराधना साध्य और व्यवहार आराधना साधन है। जब तक व्यवहार आराधना नहीं करेंगे तब तक निश्चय आराधना नहीं हो सकती है।

**निश्चय व्यवहार आराधना-**

ननु निश्चयाराधनायां सत्यां किमन्या व्यवहाराराधन्या साध्यमिति वदनं प्रत्याह-

पञ्जय णयेण भणिया चउलिहाराहण हु जो सुते।

सा पुण कारण भूदा णित्ययजयदो चउककस्स ॥ 12 ॥ आ. सा.

जो निश्चय से आत्मा से अभिन्न रूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, आराधना, है उसके कारणभूत व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपाराधना है। कारण बिना कार्य कभी भी संभव नहीं है। इस न्याय के अनुसार जब तक साधक व्यवहाराराधना रूप परिणमन नहीं करता है तब तक निश्चयाराधना को प्राप्त नहीं कर सकता है।

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

कर्तिचद्व्यः प्राथमिकावस्थायां निश्चयाराधनायां दिथतिमलभमानस्तावद् व्यवहाराराधनामाराधयति पश्चान्मनसो दाढ्यं प्राप्य क्रमे निश्चयाराधनामाराधतीत्यभिप्रायः ॥ ( आराधना सार )

अनांदि कुसंस्कार के कारण इन्द्रिय और मन की बहिमूर्खता के कारण पुनः पुनः पूर्व में आत्मतत्त्व की आराधना करता है। तब वह व्यवहाराधना को पुनः पुनः आराधना करते हुए जब चंचल मन दृढ़ हो जाता है बाह्य विषय वासनाओं से विरत होता है, आत्म भावना स्थिर होती है तब क्रमशः निश्चयाराधना की आराधना करता है।

**ध्यान का पात्र :-**

देवसेन आचार्य ने शून्य ध्यान का विशेष वर्णन किया है। शून्य ध्यान अर्थात् निर्विकल्प शुक्ल ध्यान है।

जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस झाण जुतस्स।

ताम ण सुण्णं झाणं चिंता गा भावणा अहवा ॥ 83 ॥ आ. सा.

ध्यान युक्त मुनि को जब तक कोई प्रकार विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं तब तक शून्य अर्थात् संकल्पातीत ध्यान अर्थात् निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सकता है। किन्तु चिंता, भावना, अनुप्रेक्षा, मनन, चिंतन होता है, तब तक निर्विकल्प ध्यान नहीं होता है चिंता, भावनादि ध्यान के लिये साधन है। इसप्रकार ध्यान सबको प्राप्त नहीं होता है। उसके लिये विशेष साधक चाहिये।

चइऊण सब्बसंगं लिंगं धरिऊण जिण वरिदाणं।

अण्णाणं झाऊणं भविया सिजझांति णियमेण ॥ 112 ॥ आ. सा.

समस्त अंतरंग बहिरंग ग्रन्थों को त्याग करके यथाजात रूप जिनेन्द्र लिंग को धारण कर जो आत्मा का ध्यान करेंगे वे भव्य सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके नियम से सिद्ध परमेष्ठी पद को प्राप्त करेंगे। इसप्रकार सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्र आचार्य ने भी कहा है।

तव सुदवदवं चैदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।

तम्हा पयत्तचित्ता तत्तियणिरदा तलज्जीं सदा होइ ॥ 57 ॥ द्रव्य संग्रह

ध्यान रूपी धुरा को धारण करने के लिये वही धीर पुरुष समर्थ हो सकता है जिसने अन्तरंग बहिरंग तपश्चरण को धारण किया है, जिनवाणी का अवगाहन किया है, महाव्रतों का पालन किया है। जो तप एवं व्रतों की आराधना नहीं करता

## ॐ शश शश शश शश शश शश

119 ॐ शश शश शश

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

है, वह भीरु पुरुष ध्यान रूपी धुरा को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। यदि ध्यानामृत के पान करने की इच्छा रखता है तो वह व्रत, श्रुत एवं तप में रत रहे, निरतिचार पूर्वक सेवन करें। ध्यान के लिये योग्य पात्रता चाहिये, बिना पात्रता के ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। आचार्यों ने कहा है :—

**ध्यान का पात्र अपात्र :**

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैग्रथं वशचित्तात् ।

परिषहं जयश्चेति पंचेते ध्यानं हेतवः ॥

ध्यान के लिये पाँच कारण हैं: (1) वैराग्य (2) तत्त्व विज्ञान (3) निर्ग्रथता (4) मनवशता (5) परिषह जय। जहाँ पर उपरोक्त 5 कारण हैं वहाँ पर ध्यान हो सकता है। जो परिग्रह धारी, तत्त्व विज्ञान से रहित, काम भोग विषय वासना में रत, शरीर पोषण करने वाले हैं। उन्हें त्रिकाल में भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। ज्ञानार्णव में कहा है :—

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विणः शान्तचित्तो वशी रिधः ।

जिताकाः संवृतो धीरो ध्याता शाश्वे प्रशस्यते ॥ 6 ॥ (ज्ञानार्णव चतुर्थ सर्ग)

(1) जो मोक्ष का इच्छुक है, (2) जो संसार से विरक्त है, (3) मोह क्षोभ हित शांतचित्त है, (4) मन वश में है, (5) अंगोपांग दृढ़ होने के कारण यानासन में स्थिर है, (6) इन्द्रियों को जीतकर उनके विषयों से विरक्त है, 7) संवर सहित है, (8) उपसर्ग परिषह सहन करने में धीर है वही ध्यान के नये योग्य पात्र है। उपरोक्त गुण अथवा विशेषण केवल निर्ग्रथ मुनि में ही पाये गए सकते हैं। किन्तु जो उपरोक्त विशेषण से रहित, भुभुक्षु, बकध्यानी संसार-रीर-भोग-धनसंपत्ति, स्त्री कुटुम्ब में आसक्त है चंचल मन वाले हैं, पंचेन्द्रिय दास हैं, व्रत-नियम-त्याग-तपश्चरण करने में नपुंसक के सदृश कायर हैं, वे भी भी ध्यान के लिये योग्य पात्र नहीं हो सकते हैं।

मिथ्यादृष्टि की बात तो दूर रही किन्तु सम्यग्दृष्टि और श्रावक भी जब क्र गृह-धंधा में लीन रहता है तब तक उसको भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो करी है।

दद्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोह वह्निना ।

प्रमाद मदमुत्सृज्य निःक्रांता योगिनः परम ॥ 6 ॥ (ज्ञानार्णव)

महामोहरूपी अग्नि से जलते हुए इस जगत् में से केवल मुनि गण ही गाद को छोड़कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं।

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 120 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

न प्रमादजयं कर्तुं धीं धनैरपि पार्थते ।  
महाव्यसनं संकीर्णं गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥ 9 ॥

अनेक कष्टों से भरे हुए अतिनिन्दित गृहवास में बड़े बड़े बुद्धिमान भी प्रमाद को पराजित करने में समर्थ नहीं हैं। इस कारण गृहास्थावस्था में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः ।

अतश्चित्प्रशान्त्यर्थं सद्वित्यकात् गृहेस्थिति ॥ 10 ॥

गृहस्थगण घर में रहते हुए अपने चपल मन को वश करने में असमर्थ होते हैं, अतएव चित्त की शाँति के अर्थ सत्पुरुषों ने घर में रहना छोड़ दिया और वे एकांत स्थान में रहकर ध्यानस्थ होने को उद्यमी हुए हैं।

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तं वैतसां नृणां दुराशाग्रहं पीडितात्मनाम् ।

नितम्बिनी लोचनं वौरं संकटे गृहाश्रमे स्वात्महिते न सिद्धयति ॥ 11 ॥

सैकड़ों प्रकार के कलहों से दुःखित चित्त और धनादिक की दुराशारूपी पिशाची से पीड़ित मनुष्यों के प्रतिक्षण श्वियों के नेत्ररूपी चौरों का उपद्रव है जिसमें ऐसे इस गृहस्थाश्रम में अपने आत्म हित की सिद्धि नहीं होती।

निरन्तरात्मनलदादुर्गमे कुवासनाध्यानं विलुप्तं लोचनं ।

अनेकं चिंता ज्वरं जित्यितात्मनां नृणां गृहेनात्महितं प्रसिद्धयति ॥ 12 ॥

निरन्तर पीड़ा रूप आर्तध्यान की अग्नि के दाह से दुर्गम, बसने के अयोग्य तथा काम क्रोधादि की कुवासना रूपी अंधकार से विलुप्त हो गई नेत्रों की दृष्टि जिसमें ऐसे घरों में अनेक चिन्तारूपी ज्वर से विकार रूप मनुष्यों का अपनी आत्मा का हित कदापि सिद्धि नहीं होता ऐसे गृहस्थावास में उत्तम ध्यान कैसे हो?

विपन्महापंकं निमग्नं बुद्धयः प्ररुद्धरागज्वरयन्पीडिताः ।

परिग्रहव्यालविषाग्निं मूर्च्छिता विवेकवीर्यां गृहिणः स्वलन्त्यमी ॥ 13 ॥

गृहस्थ अवस्था की आपदा रूपी महान् कीचड़ में जिनकी बुद्धि फँसी हुई है तथा जो प्रचुरता से बड़े हुए रागरूपी ज्वर के यंत्र से पीड़ित हैं और जो परिग्रह रूपी सर्प के विष की ज्वाला से मूर्च्छित हुए हैं, वे गृहस्थ गुण विवेक रूपी वीथी में (गली में) चलते हुए स्खलित हो जाते हैं अर्थात् च्युत हो जाते हैं। अथवा समीचीन मार्ग से (मोक्ष मार्ग) भ्रष्ट हो जाते हैं।

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 121 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

# ॐ राम राम राम राम

हिताहित विमुदात्मा सं शाश्वदेष्टयेदगृही।

अनेकारम्भजैः पापै कोशकारः कृमिर्था ॥ 14 ॥

जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से तारों को निकालकर अपने को ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसीप्रकार हिताहित में विचार शून्य होकर यह गृहस्थजन भी अनेक प्रकार के आरंभों से पापोपार्जन करके अपने को शीघ्र ही पाप जाल में फँसा लेते हैं।

जेतुं जन्म शतेनापि रागाधरिपताकिनी।

विना संयम शत्रेण न सम्प्रिपि शवयते ॥ 15 ॥

रागादि शत्रुओं की सेना संयमरूपी शत्रु के बिना बड़े बड़े सत्युरुषों से (राजाओं से) सैंकड़ों जन्म लेकर भी जब जीती नहीं जा सकती है, तो अन्य की रुथा ही क्या है।

प्रचण्ड पवनैः प्रायश्चाल्यनो यत्र भूभृतः।

तत्रांगनादिभः स्वानां निसर्गतरलं न किम् ॥ 16 ॥

स्त्रियाँ प्रचण्ड पवन के समान हैं। प्रचण्ड पवन बड़े बड़े भूभृतों (पर्वतों) को ड़ा देता है और स्त्रियाँ बड़े बड़े भूभृतों को राजाओं को चला देती हैं। ऐसी विद्यों से जो स्वभाव से ही चंचल है ऐसा मन क्या चलायमान नहीं होगा?

भावार्थः — स्त्रियों के संसर्ग में ध्यान की योग्यता कहाँ?

खपुष्पमधगा धृंग खरस्यापि प्रतीयते।

न पुनर्देश कालेऽपि ध्यानसिद्धिर्घाश्रमे ॥ 17 ॥

आकाश के पुष्प और गधें के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व गल में वह भी संभव हो किन्तु गृहस्थी को ध्यान की सिद्धि होनी हो तो किसी श व काल में संभव नहीं है।

जो विषय वासना में लीन होकर गृहस्थ में रहकर स्वयं को उत्कृष्ट ध्यानी नता है वह आत्मवंचन है। वह बक ध्यान के समान विषयों का ही ध्यान करता न कि आत्मध्यान। यदि अंतरंग में विषयों के प्रति अनुराग नहीं है तो बाह्य में वन भी नहीं हो सकता है।

रागदेष निवृते हिसादि निर्वर्तना कृता भवति ॥

अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥ 48 ॥ रत्नकरण श्रावका.

# ॐ राम राम राम राम

अन्तरंग रागद्वेष की निवृत्ति से बाह्य हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील परिग्रहादि बाह्य पापों से निश्चित रूप से निवृत्ति हो जाती है। जब तक अंतरंग में रागादि भाव रहेंगे तब तक बहिरंग में उसके कार्यरूप धन सम्पत्ति के ऊपर लालसा, काम, भोग, सेवन आदि रहेगा। अन्तरंग बहिरंग परिग्रह रहने के कारण श्रावक उत्कृष्ट ध्यान का पात्र नहीं हो सकता।

देवसेन आचार्य महाप्राज्ञ होने पर भी अत्यन्त निर्गर्वी थे। ‘गुणी विद्वान् न करोति गर्वम्’ इस न्याय के अनुसार आराधना सार को समाप्त करते हुए लघुता प्रगट करते हैं:-

अमुणिय तत्त्वेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण।

सोहंतु तं मुणिंदा अथि हु जइ पवयण विरुद्धम् ॥ 115 ॥

तत्त्व को नहीं जानने वाला मैं देवसेन आचार्य ने जो कुछ कहा है उसमें यदि निश्चय से आगम के विरुद्ध कुछ भी हो तो द्रव्यभाव श्रुत के धारी श्रुत केवली महामुनि संशोधन करें।

ये भावश्रुतविरहिताः केवलं द्रव्यश्रुतावलंबिनस्तेषां पुनर्द्विष्टाराधनासार थोधने नाधिकारः ये परब्रह्माराधनातत्परात्म एवात्राधिकारिण इत्यर्थः ॥

जो भाव श्रुत से रहित होते हुए जो द्रव्यश्रुत का आश्रय लेते हैं वे इस आराधनासार ग्रंथ के संशोधन करने के अधिकारी नहीं हैं। किन्तु जो परम ब्रह्म की आराधना में तत्पर हैं वे ही इस आराधना सार के संशोधन करने के अधिकारी हैं। इससे सिद्ध होता है कि भावश्रुत ज्ञान से रहित द्रव्यश्रुत ज्ञान का कोई महत्व नहीं है क्योंकि स्वमत या स्वाभिप्राय के विरोध में जिनागम में परिवर्तन करके स्वभावानुसार प्रतिपादन करेगा उससे जिनागम का हनन एवं सत्य का नाश होगा।

## भावसंग्रह

देवसेन के स्वयं देव होने का प्रायोगिक मार्ग इस भाव संग्रह में किया है। देवसेन आचार्य की बृहत्तमकृति यह भाव संग्रह है। इसमें प्राकृत गाथा बद्ध 701 गाथाएँ हैं। इसमें कुशल, निर्भीक आचार्यश्री ने मिथ्या मान्यताओं व परम्पराओं का सशक्त मुक्त कंठ से विरोध किया है। आचार्यश्री ने किसी प्रकार

कलुषित मनोभाव से अथवा पक्षपात से अथवा सम्प्रदाय व्यामोह से अथवा दूसरों को अपमानित करने के लिये कुठार घात नहीं किया है। किन्तु वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये अथवा सम्यक् मार्ग से भ्रष्ट हुए प्राणियों के ऊपर दया भाव करके कथन किया है। जो भव्य सम्यग्दृष्टि है उनके लिये इनकी वाणी अमृततुल्य है जिसका पान कर वह अमृत पद अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है। परंतु जो अभव्य है वह इस अमृत को प्राप्त नहीं सकता है।

**शास्त्रान्तरं मणिवद्वयो विशुद्धो भांति निर्वृत्तः।**

**अंगरावत् खलो दीप्तो मली ग भस्म ग भवेत् ॥176॥ (आत्मानुशासन)**

शास्त्ररूपी अग्नि में भव्य (सम्यग्दृष्टि) रूपी मणि विशुद्धि को प्राप्त कर निर्वाण सुख को प्राप्त करता है परंतु जो अभव्य रूप अंगार है वह शास्त्र रूपी अग्नि में गिरकर पहले थोड़ा प्रकाशवान होता है पश्चात् मलिन हो जाता है अथवा भस्म हो जाता है। यहाँ पर शास्त्र को आचार्य गुणधर स्वामी ने अग्नि की उपमा दी है, क्योंकि अग्नि पक्षपात रहित होकर योग्य ईंधन को जलाती है एवं प्रकाश देती है। उसी प्रकार शास्त्र रूप अग्नि निरपेक्ष से ज्ञानरूपी प्रकाश देती है। जैसे पुष्परागादि रत्न अग्नि के माध्यम से किङ्कालिमा से रहित निर्मल हो जाता है उसीप्रकार भव्य रूपी रत्न शास्त्र रूपी अग्नि के माध्यम से कर्म कलंक से रहित होकर निर्मल चिच्चमत्कार ज्योतिरूप में परिणमन करता है। जिसप्रकार लकड़ी अग्नि के माध्यम से पहले प्रकाशमान होती है बाद में मलिन रूप कोयला में परिणत होती है या भस्मरूप परिणत करती है उसीप्रकार अभव्य मिथ्यादृष्टि शास्त्र-अग्नि के माध्यम से पहले प्रकाशवान होता है अर्थात् क्षयोपशम के माध्यम से शास्त्रज्ञ हो जाता है परंतु मिथ्यात्व के कारण मिथ्याज्ञानी होकर आगम का विरोध करता है। अनंतानुबंधी क्रोधादि कषायों के कारण अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचारों का प्रचार प्रसार करके ज्ञान शून्य होकर पाप संचय कर संसार में परिभ्रमण करता है।

**विकासयंति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।**

**रोरिवार विन्दस्य कठोराश्च गुरुकात्यः ॥ 142॥ आत्मानुशासन**

जिसप्रकार सूर्य की कठोर भी किरणें कोमल सी कली को प्रफुल्लित करती हैं उसीप्रकार कठोर गुरु के वचन भव्य जीव के मन रूपी कमल को प्रफुल्लित

करते हैं अर्थात् भव्य जीव कठोर गुरु के वचन सुनकर अपने दोष को दूर कर अभ्युदय एवं निःश्रेयस सुख को प्राप्त करते हैं नीति प्रसिद्ध है:- “हित मनोहारी च दुर्लभं वचः” संसार में हितकर मनोहारी वचन दुर्लभ है। जैसे रोग को दूर करने के लिये वैद्य कड़वी औषध देता है, उसीप्रकार भव्य जीवों के भवरूप रोग दूर करने के लिये भवरोग के वैद्य गुरुदेव भी कठोर वचन रूप कड़वी औषध देते हैं। उसका पान करके भव्य भव रोग से दूर होकर परम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

इस शास्त्र का नाम अन्वयर्थक संज्ञा वाला है क्योंकि इस शास्त्र में समस्त संसारी एवं मुक्त जीवों का भाव संग्रहित है अर्थात् वर्णित है। ‘उपयोग लक्षणं जीवः’ इस सूत्रानुसार समस्त जीवराशि उपयोगमय है। परंतु कर्म सापेक्षता एवं कर्म निरपेक्षतानुसार अनेकानेक भेद प्रभेद हो जाते हैं। सामान्यप्रेक्षा उपयोग एक, विशेषप्रेक्षा-शुद्ध-अशुद्ध की अपेक्षा दो, शुद्ध, शुभ, अशुभरूप से तीन, गुणस्थानापेक्षा 1 4 इसी प्रकार संख्यात्- असंख्यादि भेद प्रभेद हैं। मध्यम प्रतिपत्ति के अनुसार उपयोग तीन प्रकार हैं। जिसमें समस्त भाव गर्भित हैं। यथा-

**जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण ग शुहो असुहो।**

**सुज्ञेण तदा सुज्ञो हृवदि हि परिणाम सम्भावो ॥ 9॥**

यथाट्फटिक मणि विशेषो निर्मलोऽपि जपा पृष्ठादि रक्त कृष्ण श्वेतोपाधिवशेन रक्त-कृष्ण श्वेत वर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन शुद्धबुद्धैक स्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सराग सम्यक्त्वं पूर्वक दान-पूजादि शुभाकृष्णानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तर गुणादि शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति। मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषाय योग पश्च प्रत्ययरूपाशुभोपयोग नाशुभोविज्ञेयः। निश्चयरज्ज्ञात्यात्मकशुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति। किं च जीवस्यासंख्यलोकमात्रपरिणामाः सिद्धान्ते उत्कृष्ट प्रतिपत्त्या तथा च मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृश्यादि चतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथितः अथ प्राभृत शास्त्रे ताम्येवगुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभ शुद्धोपयोग रूपेण कथितानि। कथमिति चेत् मिथ्यात्व-सासादन-मिश्रा गुणस्थान ब्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तर मस्तं यतस्म्यान्दृष्टि-दे शविरत-प्रमत्तासंयत गुणस्थानश्च तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादि कीणकषायान्त गुणस्थान षट्के

तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं स्योऽययोगीजन्मगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग  
फलमिति भावार्थः ॥

**गाथार्थः—** जब उपयोगात्मक जीव शुभ भाव से परिणमन करता है तब वह स्वयं ही शुभ होता है। जब अशुभ से परिणमन करता है, तब वह स्वयं ही अशुभ होता है, और जब शुद्ध भाव से परिणमन करता है तब वह स्वयं शुद्ध होता है क्योंकि जीव परिणमनशील एक चैतन्य द्रव्य है।

**टीकार्थः—** जैसे स्फटिकमणि निर्मल होने पर भी जपा पुष्पादि लाल काला, श्वेत उपाधि वश से लाल, काला श्वेतरंग रूप परिणत करता है वैसे ही यह जीव स्वभाव से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहार से गृहस्थापेक्षा यथासंभव सराग सम्यक्त्व पूर्वक दान पूजादि शुभानुष्ठान को करने से तथा मुनि की अपेक्षा मूल एवं उत्तर गुणादि शुभानुष्ठेन रूप परिणत होने से शुभोपयोग वाला जानना चाहिये। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ऐसे पाँच कारण रूप अशुभ योग सहित होता हुआ अशुभोपयोग जानना चाहिये, निश्चय रलत्रयात्मक शुद्धोपयोग में परिणत करता हुआ शुद्ध जानना चाहिये। सिद्धांत में विस्तार प्रतिपत्ति अपेक्षा असंख्यात लोक मात्र परिणाम है। मध्यम प्रतिपत्ति अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि चतुर्दश गुणस्थान अपेक्षा वर्णन है। इस प्राभृत शास्त्र में उन्हीं गुणस्थान को संक्षेप से शुभ-अशुभ तथा शुद्धोपयोग रूप से कहा गया है। (1) मिथ्यात्व, (2) सासादन, (3) मिश्र इन तीन गुणस्थान में तारतम्य रूप से अशुभ उपयोग है। इसके आगे (4) असंयत सम्यग्दृष्टि, (5) देशविरत श्रावक, (6) प्रमत्त संयत आदि मुनि तीन गुणस्थान में तारतम्य रूप से शुभोपयोग है। इसके आगे (7) अप्रमत्त, (8) अपूर्वकरण, (9) अनिवृत्तिकरण, (10) सूक्ष्म साम्पराय, (11) उपशांतमोह, (12) क्षीणकषाय में तारतम्य रूप से शुद्धोपयोग होता है। इसके बाद (13) सयोगी, (14) अयोगी गुणस्थान इन दो में शुद्धोपयोग का फल है। ऐसा इस गाथा का भावार्थ है।

इस आर्षवचन से निश्चित होता है कि शुभोपयोग का प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होता है एवं पाँचवाँ, छह, सातवाँ गुणस्थान में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। उल्कृष्ट शुभोपयोग श्रावक को नहीं हो सकता है। वह भाव लिंगी सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि को ही हो सकता है। शुद्धोपयोग (शुक्लध्यान) मुनि की

ध्यानावस्था से आरंभ होकर 12वे गुणस्थान तक रहता है। 13वाँ, 14वाँ गुणस्थान में पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट होता है जो शुद्धोपयोग का फल है।

**प्रत्येक जीव स्वभाव से स्वयं सिद्ध भगवान्** के समान शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप निरंजन, अनंत, ज्ञान, दर्शनवान होते हुए भी कर्म के कारण जीव अनेक अवस्थाओं में रहता है। वह सामान्य 14 से प्रकार के हैं।

**गुणस्थान :**— गुणस्थान का अर्थ है आध्यात्मिक सोपान। जिस सोपान के माध्यम से जीव संसार रूपी भूपृष्ठ से ऊपर ऊपर चढ़ता हुआ मोक्षरूप महल में पहुँच जाता है। त्रिकाल में इस आध्यात्मिक सोपान के माध्यम से जीवात्मा परमात्मा बनता है, अन्य कोई उपाय न भूतो न भविष्यति। जीव की अत्यन्त आध्यात्मिक सुप्त एवं निम्नत्रैणीय अवस्था मिथ्यात्व गुणस्थान है। इस पतित आत्मान्धकाररूपी अति नीच अवस्था में जीव अनादि काल से पतित होकर रच पच रहा है। जब अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपी निर्मित एवं उपादान का सम्यक् समन्वय रूप समवाय होता है एवं सद्गुरु का उपदेश मिलता है तब जाकर उसकी सुप्त अवस्था नष्ट होकर, अर्थात् जाग्रत होकर खड़ा होता है तथा स्वयं को अवलोकन करता है। एवं स्वस्वरूप को प्राप्त करने के लिये मोक्ष की ओर उत्साह पूर्वक आगे पुरुषार्थ से सुदृढ़ कदम उठाता है। आगे बढ़ते बढ़ते मोक्ष महल को प्राप्त करता है। इस अलौकिक मोक्ष महल की यात्रा को ही गुणस्थान कहते हैं।

### (1) मिथ्यात्व गुणस्थान :-

सत्य से विपरीत मान्यता, श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास रूप परिणाम व भावों को मिथ्यात्व कहते हैं। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ वीतरागी देव करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् ने दिव्यध्वनि मूलक उस परम सत्य का प्रमाण नय, निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादन किया है, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात् जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्त्व पदार्थों में विश्वास नहीं करता, श्रद्धा नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धारूप दृष्टि विपरीत होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है। सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्र आचार्य गोम्यटसार में कहते हैं

मिथ्याइही जीवो उवझुं पवयणं ण सद्वदि।

सद्वदि असब्वावं उवझुं वा अणुवझुं      || 18 || (गो. सार)

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

The wrong-believing soul does not believe in the noble doctrine preached ( By the conquerors) and believes in the nature of things as it really is not whether it be preached or not by ( the teaching or description of) any one)

**मिथ्यादृष्टिजीवः उपदिष्टं - अर्हददिभिव्याख्यातं, प्रवचनं आपागमं पदार्थत्रयं न श्रद्धाति-नाप्युपगच्छति । प्रकृष्टं वचनं यस्यासौ प्रवचनः आप्तः प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं-परमागमः, प्रकृष्टमुच्चते प्रमाणेन अभिधीयते इति प्रवचनं पदार्थः, इति निरुक्त्या प्रवचनं शब्देन तत्प्रश्नयस्याभिधानात् । पुनः स मिथ्यादृष्टिः असद्ग्रावं मिथ्यारूपं प्रवचनं आपागमं पदार्थ उपदिष्टं-आपाभासौः प्रकथितं अथवा अनुपदिष्टं अकथितमपि श्रद्धाति ।**

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अहन्त आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप, प्रकृष्ट का वचन, प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है व प्रवचन अर्थात् पदार्थ । इन निरुक्तियों से प्रवचन शब्द से आप, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं। तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्ग्राव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आपाभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

**पदमक्खरं च एकं पि जो ण रोचेदि सुत्त णिदिष्टं ।**

**सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिष्टी मुणेयत्वा ॥ 39 ॥ ( भगवती आराधना )**

विज्योदया टीका - पदमक्खरं इति । पद शब्देन पद शब्दस्य सहकारी पदस्यार्थं उच्यते । अक्खरं च इति स्वल्प शब्दोपलक्षणं स्वल्पमप्यर्थं शब्दशुतं वा जो यः । ण रोचेदि न रोचते । सुत्त णिदिष्टं पूर्वोक्तं प्रमाण निर्दिष्टम् । सेसं इतर श्रुतार्थं श्रुतांश्च रोचंतोऽपि । मिच्छादिष्टी मिथ्यादृष्टिरितिः । मुणेदत्वो ज्ञातव्यः महति कुडे स्थितं बल्हपिपयो यथा विषकणिका दृष्यति । एवम् श्रद्धानकणिका मलिनं यत्यात्मनमिति भावः ।

( ३८ ) श्रुत में कहा गया है कि एक पद का अर्थ अथवा एक अक्खर का भी अर्थ

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

जो प्रमाणभूत मानकर श्रद्धा नहीं करता है वह बाकि के श्रुतार्थ को या अश्रुतांश् को प्रमाण जानता हुआ भी मिथ्यादृष्टि ही है । बड़े पात्र में रखे हुए बहुत दूध को भी छोटी सी विषकणिका बिगाड़ती है । इसी तरह अंधश्रद्धा का छोटा-सा अंश भी आत्मा को मलिन करता है ।

**मदि सुदण्णाण बलेण दु सच्छंदं बोल्लेदे जिणुद्दिष्टुं ।**

**जो सो होदि कुद्दिष्टी ण होदि जिण मग लगखो ॥ 2 ॥**

(रणसार कुंदकुंदाचार्य)

जो मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुए मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के कारण उन्हें होकर स्वयं के मनमाने ज्ञान द्वारा अपने मत अर्थात् पक्ष को लेकर स्वच्छंद होकर कपोल कल्पित मत का प्रतिपादन करते हैं, जिनवाणी को नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जिनधर्म से बाह्य है । यदि जिनागम को दिखाने पर यथार्थ वस्तु का श्रद्धान करने लगता है और पूर्व कल्पित मत-पक्ष का त्याग करता है तब वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है । अन्यथा मिथ्यादृष्टि रहता है ।

**मिछतं वैदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि ।**

**ण य धमं रोचेदि हु महुं खु रसं जहा जरिदो ॥ 17 ॥**

मिथ्यात्वं उद्यागतं वेद्यन् अनुभवन् जीव । विपरीत दर्थनः अतत्त्वं श्रद्धा युक्तो भवति न केवलं अतत्त्वमेव श्रद्धादत्ते अनेकान्तात्मकं वस्तु स्वभावं रत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणभूतं धर्मं न योचते । (नाभ्युपगच्छति) अत्र दृष्टांतमाह-यथाज्वरितः पित्तज्वराक्रान्तो, मधुरं क्षीरादिरसं न योचते तथा मिथ्यादृष्टि धर्मं न योचते इत्यर्थः ।

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला जीव विपरीत दर्थन अर्थात् अतत्त्वं श्रद्धा से युक्त होता है । वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म, वस्तु स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता ।

**दृष्टांत :-** पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे-दूध रसादि को पसन्द नहीं करता, उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता है ।

**इंदिय विसय सुहादिसु मूढमदी रमदि न लहदि तच्चं ।**

**बहुदुक्खमिदि ण चिंतदि सो चैव हवदि बहिरणा ॥ 129 ॥ (रणसार)**

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

जो मूलमति इन्द्रियजनित सुख में रमण करता हुआ उसको सुख मानता है, बहुदुःखप्रद नहीं मानता है, वह आत्म तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

पूर्व संचित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो स्वयमेव विपरीत भाव होता है उसे निसर्ग व अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, जो कुगुरु के उपदेश से विपरीत भाव होते हैं उसे अधिगमज व गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव अवस्तु में वस्तुभाव, अर्धमूल व गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव कुगुरु में गुरुभाव, कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव को, धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतिन्द्रिय आत्मोत्थ सुख से बहिर्मुख होकर विषय सुख में ही लीन रहता है। बाह्य-भौतिक हानि वृद्धि में अपनी हानि-वृद्धि मानकर सुखी दुःखी होता है। सामान्य से मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य-भाव से दो प्रकार एकान्त, विपरीत, संशय, विनय अज्ञान, की अपेक्षा 5 प्रकार भी होता है। इसमें सांख्य-चार्वाक मत मिलाने से 7 प्रकार का मिथ्यात्व होता है। विशेष रूप से क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादी के 67 और वैयनिकवादियों के 32 इसप्रकार मिथ्यावादियों के 363 भेद होते हैं।

कोई एकांत से काल, ईश्वर, आत्मा नियति और स्वभाव स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से कर्ता मानते हैं।

### कुछ मिथ्यावादियों का स्वरूप :-

**एकांतकालवादी** :- काल ही सबको उत्पन्न करता है, काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों को काल ही जगाता है सो ऐसे काल को ठगने में कौन समर्थ हो सकता है? इसप्रकार काल से ही सब कार्य मानना, कालवाद कहलाता है।

**एकांत नियतिवादी** :- जो जिस समय जिससे जैसा जिसको नियम से होना है वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है ऐसा नियम से सभी वस्तु को मानना नियतिवाद कहलाता है।

### किसी भी कार्य के लिये पंच कारणों की आवश्यकता:-

इसीप्रकार कोई मिथ्यावादी एक एक कारण से कार्य उत्पत्ति को मानते हैं परंतु प्रत्येक कार्य सम्यक् अन्तरंग-बहिरंग भावों के सद्भाव से एवं विरोधी

कारणों के अभाव से होता है। यथा:-

कालो सहा व णियइ पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।

मिच्छंतं ते वेव उ समासओ होति सम्मतं ॥ 53 ॥ ( सन्मतिसूत्र )

प्रत्येक कार्य के लिये (1) काल (2) स्वभाव (3) नियति (4) पूर्वकृत (5) पुरुषार्थ। इन पाँचों कारणों का सम्यक् समन्वय चाहिये और प्रत्येक कार्य के लिये पाँचों को मानना सम्यकत्व है। एक एक को कार्योत्पत्ति में कारण मानना मिथ्यात्व है। कालरूपी कारण केवल बाह्य उदासीन कारण है, उपादान अथवा प्रेरक कारण नहीं है।

यदि काल को ही सम्पूर्ण कार्यों का कर्ता मानेंगे तब काल को ही कर्म बंध होना चाहिये, काल को ही सुख दुःख होना चाहिये, काल को ही मोक्ष पद की प्राप्ति होनी चाहिये? परंतु यह आगम, प्रत्यक्ष एवं अनुमानविरुद्ध है क्योंकि इसप्रकार उपलब्ध नहीं है।

इसीप्रकार नियति को ही यदि कार्य के लिये कारण मानेंगे तब काल, स्वभाव, पूर्वकृत, पुरुषार्थ रूप चार कारणों के लोप का प्रसंग प्राप्त होता है परंतु विकल अर्थात् न्यून कारण से कार्य नहीं हो सकता है। द्रव्य में परिणमन के लिये उदासीन रूप काल का अभाव होने पर द्रव्य में परिणमन नहीं होगा, स्वभाव के अभाव से द्रव्य का ही लोप होगा। पूर्वकृत के अभाव से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक एवं मिथ्यात्व से चौदह गुणस्थान तक जीव की अवस्था विशेष का अभाव होने से संसार का अभाव हो जायेगा, जिससे प्रत्येक जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य निरंजन स्वरूप हो जायेंगे जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

कर्म नहीं है तो कर्म नष्ट करने के लिये पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? संसार के अभाव से प्रतिपक्षभूत मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। संसार-मुक्त जीवों का अभाव होने से प्रतिपक्षभूत अजीव द्रव्य का अभाव हो जायेगा, तब सर्व शून्यता का प्रसंग आयेगा जो कि अनुपलब्ध है।

यदि केवल नियति को ही कार्य में कारण मानेंगे तो पुरुषार्थ के अभाव होने से लौकिक व अलौकिक कार्य के लिये जीव बुद्धि पूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक क्रिया करता है उसका लोप होगा, पुरुषार्थ के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। परंतु जो अनंत केवली हुए हैं वे सभी पुरुषार्थ पूर्वक, बुद्धिपूर्वक,

गृहस्थ जीवन का त्यागकर, शरीर स्थित पोषाक निकालकर, केशलोंच कर, निर्ग्रथ रूप धारण कर, कठोर अन्तरंग-बहिरंग तपश्चरण कर मोक्ष पदवी प्राप्त किये हैं।

धूत सिद्धि तित्थयरो चउणाण जुदीवि करेइ तवयरणं ।  
णाऊण धूं कुजा तवयरणं णाणज्ञतो वि ॥ 60 ॥ (अष्टपाहड)

तद्भव मोक्षगामी, चरमशरीरी, निश्चितरूप से तद्भव में मोक्ष जाने वाले, जन्म से ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक होते हैं और अन्तरंग-बहिरंग कारण मिलने पर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर “नमः सिद्धेभ्यः” बोलकर केशलोंच कर दीक्षा लेते हैं। तब अनेक ऋद्धि-सिद्धि सहित मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होने पर चार ज्ञानधारी होने के कारण उन्हें स्पष्ट अवगत है कि मैं निश्चित मोक्ष जाऊँगा तो भी तीर्थकर भगवान् कठोर-कठोर अन्तरंग-बहिरंग तपश्चरण करते हैं, मासोपवासी होकर पर्वत के शिखर पर ग्रीष्म ऋतु में, जिससमय पाँव के नीचे पृथकी जलती है और सूर्य ऊपर अत्यन्त संताप देता है, चारों ओर ऊष्ण वायु शरीर का शोषण करती है, तब भी कर्म शत्रु को नष्ट करने के लिये अन्तरंग बहिरंग तपश्चरण करते हैं, अन्यथा कर्म नष्ट नहीं हो सकता है कर्म नष्ट हए बिना शाश्वतिक आत्मोत्थ अतीन्द्रिय ज्ञानानंद सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

तीर्थस्त्रा जगज्जेषा, यदपि मोक्षगामिना ।  
तथापि पालितं तैश्च चारित्रं मुक्ति हेतवे ॥

जगत् में ज्येष्ठ तीर्थ के ईश्वर जो निश्चित मोक्षगामी हैं तो भी वे मुक्ति के हेतु चारित्र का पालन करते हैं।

जदि ण वि कुच्चदि छेदं ण मुक्तदे तेण बंधणवसो स।

कालेण दु बहगेण वि ण सो णरो पावदि विमाकरव ॥ 289 ॥ स. सार.

जह बधे छितूण य बधण बज्जा दु पावादि विमाकर्त्ता

तह बधि छेषूण य जीवा सपावादि विमाकर्त्त ॥ 292 ॥

As a person, who has been in shackles for a long time may be aware of the nature of his bondage, intense or feeble, and also its duration still so long as he does not make any effort to break them, he does not, get him self free from the

A decorative horizontal border at the bottom of the page, featuring a repeating pattern of stylized floral or geometric motifs in a dark blue-grey color.

chains, and may have to remain so for a long time without obtaining freedom. Similarly a person karmic bondage, even if he has the knowledge of the extent, the nature, the duration and, the strength of the karmic bondage, does not get liberation (by this mere knowledge) but he gets complete liberation if pure in heart.

As one bound in shackles gets release only on breaking the shackles, so also the self attaionse emancipation only by breaking (karmic) bondage.

जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः ज्ञानज्ञपि यदि बंधच्छेदं न करोति तदा  
न मुच्यते तेन कर्म बंध विशेषणमुच्यमानः सद् पुरुषो बहुतर कालेऽपि मोक्षं न  
लभते ॥

यथा बंधन बद्धः कश्चित्पुण्ड्रो रघुबंधं शृंखला बंधं काष्ठ निगल बंधं वा  
किमपि बंधं द्वित्वा किमपि बंधं छित्वा किमपि बंधं विदारित्वा किमपि भित्वा  
किमपि मुक्तवा स्वकीय विज्ञान पौरुष बलेन मोक्षं प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि  
वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान बलेन बंध छित्वा द्विधाकृत्वा भित्वा विदार्य  
मुक्त्वा छोडित्वा च निज शूद्धात्मोपलंभ स्वरूप मोक्षं प्राप्नोतीति ॥

कोई एक पुरुष धातु निर्मित शृंखला से बंधनबद्ध होकर पड़ा है, वह उस शृंखला का वर्ण, स्वभाव, गुण धर्म के बारे में जानता है, मानता है और मनन चिंतवन भी करता है, तो भी तब तक उस बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है। जब तक वह उस बंधन को छेदन, भेदन, खण्डन नहीं करेगा। उसीप्रकार संसारी जीव कर्म रूपी बंधन में पड़ा है। वह विषय को जानता है, मानता है, और बंधन से मुक्त होने के लिये चिंतन मनन भी करता है, परंतु जब तक कर्म बंधन को नष्ट करने के लिये दृढ़ पुरुषार्थ रूप क्रिया नहीं करेगा, वह पुरुष बहुकाल तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे रञ्जु (रसी) लोह, स्वर्ण, काष्ठ रूप बंधन को तोड़कर फोड़कर, खोलकर, नष्ट कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से मुक्त हो सकता है। उसीप्रकार मुमुक्षु वीर भी स्वविज्ञान, पुरुषार्थ रूपी वीतराग निर्विकल्प, स्वसंवेदन ज्ञान के बल से उस बंधन को छेदकर, भेदकर,

133

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

खोलकर, तोड़कर, नष्ट कर, विदारण कर अपने श्रद्धात्मा के उपलभ्म स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है, वही परम पुरुषार्थ है।

बिना पुरुषार्थ मोक्ष नहीं होता, केवल नियति को मानना, परम पुरुषार्थ का तिरस्कार करना, अवहेलना करना, नकार करना है। इसलिये एकान्त नियतिवाद घोर मिथ्यात्व है, शिथिलाचार, भ्रष्टचार का पोषक है। यदि नियति से सब कुछ होता है तो धन-सम्पत्ति के लिये व्यापार, पुत्र उत्पत्ति के लिये विवाह, रोग निवारण के लिये औषध सेवन, ज्ञानार्जन के लिये विद्यालय जाना, शास्त्र अध्ययन, प्रवचन, शिविर आदि की क्या आवश्यकता है?

इसप्रकार सम्पूर्ण मिथ्यात्व के कारण वस्तु स्वरूप का अयर्थार्थ श्रद्धान् एवं आत्म स्वरूप का विपरीत श्रद्धान् होने से मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, कर्म बंध का प्रधान कारण है, अधर्म का आधार है, आत्म पतन के लिये मूल हेतु है।

### मिथ्यात्व में बंधः-

‘मिथ्यादर्थनाऽविरतिप्रमादकषाया योगः बंधहेतवः’ ॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु हैं क्योंकि इन कारण पूर्वक ही बंध होता है। ‘त एते पञ्च बंध हेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा मिथ्यादृष्टे: पञ्चापि समुदिता बंध हेतवो भवन्ति’ ये पाँचों स्वतंत्र स्वतंत्र बंध के हेतु हैं और समुदाय से भी बंध के कारण हैं। जैसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पाँचों बंध के लिये कारण है। सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन स्थान में मिथ्यात्व को छोड़ अन्य अविरति आदि चारों प्रत्यय बंध के कारण हैं। जब तक मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति उदय में रहती है तब तक मिथ्यात्वादि 16 प्रकृतियों का बंध होता है। उसके आगे बंध व्युच्छिति हो जाती है।

मित्त हुङ संदाऽसंपत्तेयक्त धावरादावं।

सुहमतियं तियलिंदिय णिरयदु णिरयात्गं मित्ते ॥ 95 ॥ (कर्मकाण्ड)

मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तासपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु इन 16 प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होती है।

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 134 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

सामण्ण पत्त्वा खलु चतुरो भण्णांति बंधकतारो।

मित्तं अविरमणं कषायं जोगा य बोद्धवा ॥ 10 ॥ (समयसार)

सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कर्ता हैं अर्थात् जिस समय में मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है उस समय उदयगत मिथ्यात्व कर्म के कारण जो भाव होता है उसके माध्यम से पुनः नवीन कर्म बंध होता है। इसीप्रकार अविरति आदि से जानना चाहिये। यहाँ पर प्रमाद को आचार्यश्री ने नहीं गिनाया है तो क्या प्रमाद बंध के लिये कारण नहीं है? अवश्य कारण है किन्तु प्रमाद को कषाय में अन्तर्भूत कर दिया है क्योंकि कषाय के कारण प्रमाद होता है। द्रव्य संग्रह में “जोगा पयडि पदेसा द्विदि अणुभाग कसायदो होदि” इसमें कषाय को ही स्थिति और अनुभाग का कारण बताया है। तो क्या मिथ्यात्व और अविरति बंध के कारण नहीं है? अवश्य हैं, किन्तु संक्षेप से कषाय में मिथ्यात्वादि को अन्तर्भूत कर दिया है। यहाँ पर कषाय प्रत्यय अंत- दीपक है, इसलिये उसके पहले पहले के सभी कारण उससे ग्रहण किये गये हैं।

### सूत्र :-

सब्वतिव्वाणुभागा मित्तातस्स उक्कस्साणु भागुदीरणा।

अणांताणुबंधीणमण्णदरा उक्कस्साणु भागुदीरणा तुल्ला अणांत गुण हीणा ॥

ज.ध.पु. 11 प. 123-124

सबसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात् सबसे तीव्र शक्ति से संयुक्त है। उससे अनंतानुबंधियों की अन्यतर (कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंतगुणी हीन है।

शंका :- मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सबसे तीव्र क्यों है।

समाधान :- “सब्व द्व्य विषय सद्वहण गुण पडि बंधित्तादो”

अर्थ :- सर्व द्रव्य, विषय श्रद्धान् गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है। ज.ध.पु. 11 प. 123

मित्तत्पत्त्वयो खलु बन्धो उवसाम यस्स बोधवा।

उवसंते सासणे तेण परं होदि भयणिज्जो ॥ (धरलः)

मिथ्यात्व का उपशांत अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 135 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

नेमितक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव को मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त जीव को बंध नहीं होता। एक विचारणीय विषय है कि 40 कोड़ा कोड़ी सागर स्थितिवाला चारित्र मोहनीय (अनंतानुबंधी आदि) 70 कोड़ा कोड़ी सागर स्थिति प्रमाण दर्शन मोहनीय को कैसे बंध कर सकता है। यदि केवल कषाय को ही स्थिति बंध का कारण मानेंगे तो दर्शन मोहनीय का स्थिति बंध मात्र कषाय के द्वारा होने पर 70 कोड़ा कोड़ी सागर का और मिथ्यात्व में 16 प्रकृतियों का जो बंध होता है वह नहीं हो सकता है। अनंतानुबंधी भी मिथ्यात्व के सहाय से ही अनंतसंसार का कारण हो सकती है अन्यथा नहीं।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय आत्मनः सम्यक्त्व परिणामं कषन्ति अनंत संसार कारणत्वात् अनन्तं मिथ्यात्वं, अनंतभव संस्कार कालं वा अनुबन्धनिता सुघट्यनीत्यनन्तानुबन्धिन इति॥ (गो. स्मार. टीका ग्राथा 283)

अनंतानुबंधी क्रोध—मान—माया—लोभ कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को धातती है क्योंकि अनंतसंसार का कारण होने से मिथ्यात्व कर्म को अनंत कहते हैं। उस अनंतभव के संस्कार काल को बाँधती है इसलिये उसे अनंतानुबंधी कहते हैं। एक क्षण के लिये भी सम्यक्त्व हो जाता है तो संसार अनंत नहीं रहता है संसार परीत हो जाता है जो अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है। अतः—

**न सम्यक्त्वं समं किञ्चित् त्रैकाल्यं त्रिजगत्यपि ।**

**श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वं समं नान्यतनुभूताम् ॥ 34 ॥** (रनकरण श्रावक)

In the three periods of time and the three worlds there is nothing more auspicious than right Faith for the living beings, nor any thing more iniquacious than a false conviction.

तीन जगत् में तीन काल में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर जीवों के लिये अन्य कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है।

**( 2 ) सासादन :-**

**आदिम सम्मतज्ञा समयादो छावलिति गा सेसे ।**

**अण अण्णदरुदयादो णासिय सम्मोति सासणकर्तवो सो ॥ 19 ॥**

सासादन अर्थात् असादन सहित। जिसने उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

सम्यक्त्व के काल में जगन्य से एक समय और उत्कृष्ट से 6 आवली शेष रहने पर अनंतानुबंधी संबंधी क्रोधादि एक कषाय का उदय होने पर जो सम्यक्त्व रूपी रत्न पर्वत के शिखर से गिरकर मिथ्यात्व रूप भूमि के सन्मुख हुआ है परंतु मिथ्यात्व रूप भूमि में अभी तक पहुँचा नहीं, उस पतनाभिमुख आत्मीक परिणाम विशेष को सासादन गुणस्थान कहते हैं।

**( 3 ) मिश्र गुणस्थान :-**

**सम्मामिच्छुदण्ण य जतंतर सखधादि कज्जेण ।**

**ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिसो होदि परिणामो ॥ 21 ॥** (गो.सार)

जात्यंतर सर्वधाति के कार्य रूप सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के एक साथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिश्र परिणाम होता है उस समय में शुद्ध न सम्यक्त्व रहता है न मिथ्यात्व रहता है जिस प्रकार मिले हुए दही—गुड़ में खट्टा और मीठा दोनों गुण युगपत मिले हुए रहते हैं उनको अलग—अलग करना शक्य नहीं है उसीप्रकार मिश्र अवस्था में सम्यग्मिथ्यात्व भाव रहते हैं। जिस प्रकार घोड़ी गधा से उत्पन्न हुई संतान न घोड़ा होता है न गधा होता है अंपितु तीसरी ही जाति खच्चर होता है। “गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास” नीति के अनुसार सम्यक् देव गुरु शास्त्र को भी मानता है और मिथ्या देव गुरु शास्त्र को भी मानता है।

**( 4 ) अविरत सम्यग्दृष्टि :-**

इस गुणस्थान से वास्तविक मोक्ष का मंगलाचरण होता है। अन्तरंग—बहिरंग समस्त कारणों के सद्भाव से मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी चतुष्क का उपशम, क्षयोपशम, क्षय से यथाक्रम उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो कि मोक्षफल के लिये बीजभूत है। जिसप्रकार बीज के अभाव से बीज की उत्पत्ति, वृद्धि नहीं हो सकती है। सम्यग्दर्शन एक अंक प्रमाण है और ज्ञान चारित्र दो शून्य के समान है। जैसे स्वतंत्र शून्य का कोई मूल्य नहीं है परंतु एक के आगे जोड़ने पर 100 संख्या हो जाती है। वर्तमान शून्य में विशेष मूल्य है जिसके कारण एक का मूल्य बढ़कर सौ हो गया। यदि सौ पूर्ण मोक्ष मार्ग है तो स्वतंत्र एक संख्या रूपी सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग नहीं है, दशक स्थान स्थित शून्य रूपी सम्यग्ज्ञान पूर्ण मोक्ष मार्ग नहीं है, तथा तृतीय स्थान स्थित शून्यरूपी चारित्र

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

मोक्षमार्ग नहीं है परंतु सम्यगदर्शन रूप एक के आगे सम्यगज्ञान रूप शून्य जोड़ने पर दश तथा सम्यक् चारित्र रूप शून्य जोड़ने पर सौ हो जाता है जो कि पूर्ण मोक्षमार्ग है। वर्तमानकाल के संस्कृत जैनवाङ्मय के आद्य सूत्रकार उमास्वामी प्रथम सूत्र में कहते हैं :—

**“सम्यगदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः”।**

इस सूत्र में सम्यगदर्शन ज्ञान चारित्राणि बहुवचन है और ‘मोक्षमार्ग’ एक वचन रखने का एक महान् रहस्य छिपा हुआ है; जिसका अर्थ है स्वतंत्र सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है परंतु तीनों का सम्यक् समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। सूत्र में जो पद क्रम रखा गया है। उसमें भी एक महान् आगमिक एवं आध्यात्मिक सूक्ष्म रहस्य भरा है अर्थात् सम्यगदर्शन पूर्वक सम्यगज्ञान और सम्यगज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र होता है। अन्य भी एक कारण है जो कि सम्यगदर्शन पूर्ण होने के बाद भी साक्षात् तत्काल मोक्ष नहीं मिलता है, जैसे क्षायिक सम्यगदर्शन चतुर्थगुणस्थान में पूर्ण होने पर भी तत्क्षण मोक्ष नहीं होता है। कोई जघन्य से एक भव तो और कोई उत्कृष्ट से 4 भवों तक परिभ्रमण करता है।

सम्यगज्ञान 13 वें गुणस्थान में पूर्ण हो जाता है तो भी तत्क्षण मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, जघन्य से अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि वर्ष तक संसार में रुका रहता है। चौदहवें गुणस्थान के अंत में शैलेश अवस्था प्राप्त होती है एवं चारित्र पूर्ण होता है तब सम्पूर्ण कर्म नष्ट होकर शाश्वतिक मोक्ष पदवी प्राप्त होती है। इस सिद्धांत को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं तब पाते हैं कि सम्यगदर्शन की पूर्णता मोक्ष मार्ग की पूर्णता नहीं है, तथा सम्यक्ज्ञान की पूर्णता भी मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं है, किन्तु सम्यगचारित्र की पूर्णता ही मोक्षमार्ग की पूर्णता है। इसलिये सूत्र में पहले सम्यगदर्शन को उसके पश्चात् सम्यगज्ञान और शेष में सम्यक्चारित्र को रखा है। मोक्षमार्ग का प्रारंभ सम्यगदर्शन से एवं पूर्णता सम्यक्चारित्र से होती है। जहाँ पर सम्यक् चारित्र है वहाँ सम्यगदर्शन व सम्यगज्ञान निश्चित रूप से रहेंगे ही, किन्तु जहाँ पर सम्यगदर्शन व सम्यगज्ञान है वहाँ पर चारित्र भजनीय है अर्थात् हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे किसी के पास दस हजार रूपये हैं उसके पास सौ रूपये, दस रूपये हैं ही। किन्तु जिसके पास दस रूपये और सौ रूपये हैं उसके पास हजार

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

रूपये हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं। इसलिये मोक्षमार्ग का धनी सम्यक्चारित्रवान् जीव है।

**णो इंदिष्मु विरदो णो जीवे धावरे तसे गपि।**

**जो सद्बहदि जिणुतं सम्माइषी अविरदो सो ॥ 29 ॥ (गो.सा.)**

जो इन्द्रिय के विषयों से विरत नहीं है तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरत नहीं है केवल जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान् रखता है, इसलिये वह जीव अविरत सम्यगदृष्टि है। अपि शब्द से संवेगादि गुण प्रगट होते हैं।

**सम्माइषी जीवो उवइर्ह पवयणं तु सद्बहदि।**

**सद्बहदि असध्वावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ 27 ॥**

**सुतादो तं सम्मं दरसिज्जतं जवा ण सद्बहदि।**

**सो चैव हवइ मिद्याइषी जीवो तदो पहुदि ॥ 28 ॥**

जो जीव अर्हन्त आदि के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन अर्थात् आस, आगम और पदार्थ इनकी श्रद्धा रखता है, साथ ही उनके विषय में असद्वाव अर्थात् अतत्व भी स्वयं के विशेष ज्ञान से शून्य होने से, केवल गुरु के नियोग से जो गुरु ने कहा वही अर्हन्त भगवान् की आज्ञा है ऐसा श्रद्धान् करता है, वह भी सम्यगदृष्टि ही है। अर्थात् अपने को विशेष ज्ञान न होने से और गुरु भी अल्पज्ञानी होने से वस्तु स्वरूप अन्यथा कहे और यह सम्यगदृष्टि उसे ही जिनाज्ञा मानकर अतत्व का श्रद्धान् कर ले तब भी वह सम्यगदृष्टि ही है, क्योंकि उसने जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।

उक्त प्रकार से असत् अर्थ का श्रद्धान् करता हुआ सम्यगदृष्टि जीव जब अन्य कुशल आचार्यों के द्वारा पूर्व में उसके द्वारा गृहीत असत्यार्थ से विपरीत तत्त्व गणधरादि द्वारा कथित सूत्रों को दिखाकर सम्यक् रूप से बतलाया जावे और फिर भी वह दुराग्रह वश उस सत्यार्थ का श्रद्धान् न करे तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है, क्योंकि गणधरादि के द्वारा कथित सूत्र का श्रद्धान् न करने से जिनाज्ञा का उल्लंघन सुप्रसिद्ध है। इसीकारण वह मिथ्यादृष्टि है।

**भयवसण मल विवज्जिद -संसार सरीर भोग णिक्षिणो।**

**अणु गुणंग समग्नो दंसण सुद्धो हु पंचगुरु भतो ॥ 5 ॥ (रण सार)**

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वाद्यन्ते शश्वत् तत्त्वाद्यन्ते

जो सप्त भय् से रहित , सप्त व्यसन से रहित, सम्यग्दर्शन के 25 अतिचार मल दोष से रहित है, संसार शरीर भोग से विरक्त है, सम्यग्दर्शन के 8 अंग सहित है एवं पंचपरमेष्ठी की जो भक्ति करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन सामान्य से एक प्रकार है। सराग सम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन अपेक्षा दो प्रकार है। (1) उपशम (2) क्षयोपशम (3) क्षायिक की अपेक्षा तीन प्रकार का है।

(1) आज्ञा (2) मार्ग (3) उपदेश (4) सूत्र (5) बीज (6) संक्षेप (7) विस्तार (8) अर्थ (9) अवगाढ़ (10) परम अवगाढ़ भेद से सम्यक्त्व 10 प्रकार भी है। उसमें से प्रथम सम्यक्त्व आज्ञा सम्यग्दर्शन है। यथा -

**आज्ञासम्यक्त्वं मुक्तं यदुत् विरुचिं वीतरागाज्ञयैव ।**

**त्यक्तं ग्रन्थं प्रपञ्चं शिवमृतपथं प्रश्वधन्मोहणानोः ॥ (आत्मानुशासन)**

दर्शनमोनीय के उपशांत होने से ग्रन्थ श्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उसको आज्ञा सम्यग्दर्शन कहते हैं क्योंकि उसका श्रद्धान होता है सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान् कभी भी अन्यथा उपदेश नहीं करते हैं जो भी कथन करते हैं वह सत्य ही कथन करते हैं।

**सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुर्भिनैव हन्यते ।**

**आज्ञा सिद्धं तु तद्याहां नान्यथावादिनो जिना ॥ 5 ॥**

वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान् के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व त्रिकाल अबाधित परम सत्य एवं सूक्ष्म है, जो कि परोक्ष मति ज्ञान श्रुतज्ञान के अवयवभूत हेतु, तर्क, उदाहरण से खण्डित नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते हैं। इसलिये उनकी आज्ञा ग्रहण करने योग्य है। यहाँ से ही सम्यग्दर्शन का प्रारंभ होता है। आज्ञा सम्यक्त्व तलहड़ी ( आधारशिला) है। उसके ऊपर अन्य सम्यग्दर्शन रूपी महल अवस्थित है।

कुछ वर्ष पूर्व जैन धर्म के अनेकांतवाद, स्याद्वाद, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय, कालद्रव्य, परमाणुवाद, वनस्पति एकेन्द्रिय हैं, इत्यादि सिद्धांत अन्य कोई दर्शन एवं विज्ञान नहीं मानते थे, वर्तमान वैज्ञानिक शोध से उपरोक्त समस्त विषय को आज वैज्ञानिक जगत् एवं साधारण जन भी मानने लगे हैं। विज्ञान की नवीन नवीन शोध से जैन धर्म की प्रमाणिकता अधिक

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वाद्यन्ते शश्वत् तत्त्वाद्यन्ते

अधिक दुनिया के सन्मुख स्पष्ट होती जा रही है इससे सिद्ध होता है कि जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत समस्त सिद्धांत सत्य पूर्ण और तथ्यपूर्ण हैं इसलिये जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

### ( 5 ) देशविरत:-

सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव की सुप्त अवस्था नष्ट होती है। विपरीत श्रद्धान नष्ट होने के पश्चात् आत्मा की उन्नति के लिये अथवा मोक्ष प्रयाण के लिये उठकर खड़ा होता है परंतु पूर्व संस्कार के कारण चारित्र मोहनीय के तीव्र उदय से मोक्ष मार्ग के साधनभूत किसी प्रकार का चारित्र धारण नहीं कर पाता है। जब देश चारित्र प्रतिबंधक अप्रतित्याख्यान कथायों का उपशम या क्षयोपशम होता है तब आत्मिक शक्ति कुछ वृद्धि होने का कारण मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिये कदम उठाता है।

मोक्ष के साधन भूत सम्पूर्ण व्रतों को पालन करने के लिये आत्मशक्ति नहीं होने के कारण देश व्रतों को धारण कर मन्थरगति से मोक्ष मार्ग में बढ़ता है। यथा-

**जो तस वहादो विरदो अविरदओ तह य धावरवहादो ।**

**एक समयमि जीओ विरदाविरदो जिणेकर्मई ॥ 31 ॥ (गो.जी.)**

( He) who vows against the killing of mobile ( trasa) Soul, and (is) vowless as to the killing of immobiles (sthavara) souls, and is entirely devoted to the conqueror (Jina), is vowful and vowless ( Virata-avirata) at one and the same time.

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव एक ही काल में त्रस वंध से विरत होने के कारण एवं स्थावर वंध से अविरत होने के कारण वह विरताविरत सार्थक नाम से सहित है। च शब्द से सूचित होता है कि प्रयोजन के बिना स्थावर हिंसा भी नहीं करता है। उसका श्रद्धान् अर्थात् रुचि भक्ति जिन भगवान् में रहने के कारण वह जिनैकमति होता है। यहाँ से संयम अथवा विरत का प्रारंभ होता है यह आदि दीपक होने के कारण आगे भी गुणस्थान में यह विशेषण जोड़ना चाहिये। इस गुणस्थान में श्रद्धान रहते हुए भी आत्मा के घातक विषय कथायों से सम्पूर्ण विरत नहीं हो पाता है।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वाद्यन्ते शश्वत् तत्त्वाद्यन्ते

A decorative horizontal border at the bottom of the page, featuring a repeating pattern of stylized floral or scrollwork motifs in black ink.

अनादि विद्या दोषोत्थं चतुःसंज्ञाज्वरातुराः ।  
 शश्वत्स्वज्ञानं विमुखः सागारा विषयोन्मुखाः ॥ 2 ॥ ( सागार धर्ममूर्त )  
 अनादिविद्यानुस्यूतां ग्रंथसंज्ञमुपासितुम् ।  
 अपारयन्तः सागारः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥ 3 ॥

अनादि कालीन अविद्यारूप दोषों से उत्पन्न होने वाली चारों संज्ञाओं रूपी ज्वर से पीड़ित होकर और उसको सहन करने में असमर्थ होकर उस आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, संज्ञा रूप दाह को शांत करने के लिये विषय समुद्र में स्नान करता है। उस समय में वह हिताहित विवेक से शून्य होकर, निरन्तर आत्म ज्ञान से विमुख होकर विषयों को भोगता है। बाह्य जड़ वस्तुओं का संग्रह करता है। धन-सम्पत्ति आदि के क्षय से भयभीत होता है, शुष्टि पुष्टि कर इन्द्रियों को उत्तेजित कर आहारादि का भी सेवन करता है। अनादिकालिन अज्ञान के कारण परंपरा से आने वाली परिग्रह संज्ञा को त्याग करने में असमर्थ प्रायः विषय काम भोग में मूर्च्छित श्रावक होते हैं। इसीप्रकार भव्य सम्पदृष्टि जीवों की दीन अवस्था को देखकर स्वपर उपकारी मोक्षमार्ग के पथिक यथाशक्ति उसका आत्मउद्धार के लिये उपदेश देते हैं।

विषयविषपाशनोत्पत्ति मोहज्वरजनित तीव्रतुष्णाख्य ।

निःशक्तिकर्य भवतः प्रायः पैयाद्यपक्रमः श्रेयान् ॥ 17 ॥ (आत्मानुशासन)

विषयरूपी विषय अपथ्य भोजन से उत्पन्न हुआ मोह रूप ज्वर के निमित्त से जो तीव्र स्त्री संभोग रूप तृष्णा धन सम्पत्ति उपार्जन संरक्षणादि लालसा, विलासादि तीव्र तृष्णा से सहित होने के कारण जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐसे तेरे लिये प्रायः सुपाच्य पेय के योग्य अणुव्रतादि सदृश पथ्य प्राथमिक अवस्था में चिकित्सा के लिए अधिक श्रेयस्कर होगी।

बृहत्यः समस्तविरर्ति प्रदर्शितां यो न जात् ग्रहणाति ।

ਗੁਰੂ ਦੇਵਾਨਾ ਪ੍ਰਾਣੀ ਵੀਜੇਨ ॥ 17 ॥

He, who is not prepared to adopt the order of saints should be persuaded to enter the life of a virtuous house holder who practises partial renunciation and gradually prepares himself for the higher orders.

पथम भव्यों को समस्त विरति रूप मोक्ष का प्रधान कारणीभूत महाव्रत

142

A decorative horizontal border at the bottom of the page, featuring a repeating pattern of stylized floral or scrollwork motifs in a dark color.

रूप मुनि धर्म का उपदेश देना चाहिये और ग्रहण करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये यदि वह भव्य इन महान ब्रतों को धारण करने के लिये असमर्थ होगा तब एक देशविरति रूप गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये। यदि मुनि धर्म का उपदेश न देकर, मुनिधर्म को स्वीकार करने रूप उत्साह नहीं देकर केवल गृहस्थ धर्म का उपदेश देंगे तब वह मुनि प्रायश्चित्त का भागी है। क्योंकि गृहस्थ धर्म में सम्पूर्ण विषय कथाय, परिग्रह से विरति नहीं है, सम्पूर्ण पाप कर्मों से विरति नहीं है, निराकुलता रूप धर्म शुक्ल रूप आत्मध्यान् भी नहीं होता है, उससे भव्य की आत्म उन्नति में बाधक होता है।

अष्टमल गुणः-

ਮਹੁ ਮਜ਼ਜ ਮਿਸ ਵਿਰੰਝ ਚਾਓ ਪੁਣ ਤੁਬਰਾਣਾ ਪੰਚਣਹਾਂ।

अष्टुदे मूलगणा हवंति फुडु देसविरदम्मि ॥ 356 ॥ (भाव-संग्रह)

मध्य, मांस, मधु, एवं पंच उदुम्बरों को त्याग करना देश विरतियों के 8 मूल ग्रन्थ हैं।

मध्यपलमधु निशासन पंचफली विरति पंचकास्त्रनृती ।

**जीवद्याजलगालनमिति च वचिदष्टमूलगणा ॥ 18 ॥** (सागर धर्मार्थ)

(1) मध्यत्याग् (2) मांस त्याग् (3) मधु त्याग् (4) रात्रि भोजन त्याग्  
 (5) पंचउदुम्बर फलों का त्याग् (6) त्रैकाल्यं पंचपरमेष्ठी भगवान् की वंदना  
 (7) जीवदया (8) पानी छान कर पीना। इसप्रकार प्रकारान्तर से 8 मूलगुण हैं।  
 जो श्रावक उपरोक्त मूलगुणों को पालन नहीं करता है वह श्रावक ही नहीं है।  
 श्रावकों के लिये मध्य, मांस, मधु, पंचउदुम्बर फल, सप्त व्यसन, रात्रि भोजन,  
 अनछना पानी पीना आदि त्याग करना अनिवार्य है। तथा जीवदया, पंचपरमेष्ठी  
 प्रतिभक्ति, देवदर्शन, शास्त्र, श्रवण, गुरुवंदना, आहारदान, देवपूजा, संयम,  
 तप, अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाण,  
 अणुव्रत पालन करना अनिवार्य है तथा अन्याय, अत्याचार, शोषण, लोक,  
 विरुद्ध, समाज विरुद्ध, परनिंदा, आत्म प्रशंसा, द्वेष मात्सर्य आदि पापात्मक  
 अशुभ परिणामों को त्याग करके पुण्यात्मक शुभ परिणाम को धारण, पोषण,  
 संवर्धन करना चाहिये।

अष्टावनिष्ट दस्तर दुरितायतनाव्यमूनि परिवज्ये

जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शज्जधियः ॥ ७४ ॥ (पूरुषार्थ सिद्धि)

143

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

मध्य, मांस, मधु एवं पंच उदुम्बर फल अत्यन्त अनिष्टकर, पापवर्धक, नरक निगोदियादि दुर्गति के कारण आत्मपतन के कारण मानसिक शारीरिक, वाचनिक, आध्यात्मिक मलिनता के कारण होने से जो उनको यत्नपूर्वक त्याग करता है वही भव्य सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध मनोभाववाला होकर जिनधर्म सुनने के लिये, शास्त्र सुनने के लिये शास्त्र पढ़ने पढ़ाने, उपदेश करने का पात्र होता है अन्य नहीं हो सकता है।

### श्रावक के षट् आवश्यक :-

**देवपूजा गुरुपारितः स्वाध्यायः संयमस्तपः।  
दानं चेति गृहस्थानं षट्कर्मणि दिने दिने॥ 6॥ (पद्मनंदि पंचविंशति)**

(1) देवपूजा (2) गुरुपैवा (3) स्वाध्याय (भावद्रव्यरूप श्रुताभ्यास (4) संयम (5) प्रकार प्राणी संयम, मन संयम, इन्द्रिय संयम) (5) तप (यथायोग्य इच्छा निरोधरूप अन्तरंग-बहिरंग तप) (6) दान ये गृहस्थों के दैनन्दिन अवश्य करने योग्य कर्तव्य हैं।

**देवपूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः।  
शास्त्रं परोपकारत्वं मर्त्यं जन्म फलाष्टकम्॥**

(1) देव पूजा (2) दया (3) दान (4) तीर्थयात्रा (5) जप (6) तप (7) शास्त्र अध्ययन (8) परोपकार ये मनुष्य जन्म के उत्तम 8 फल हैं।

**“दानं पूजा सीलमुववासो चेदि चउविहो सावय धम्मो” (ज.ध. पु. 1 पृ० 91)**

(1) दान (2) पूजा (3) शील (4) उपवास ये चारों श्रावकों के धर्म हैं।

**दानं पूया मुकरं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा।**

**झाणज्ञायणं मुकरं जदि धम्मे तं विणा तहा सोवि ॥ 11॥ (रणसार )**

श्रावकों के अनेक कर्तृव्यों में से षट् आवश्यक मुख्य हैं। उनमें भी दान-पूजा अत्यन्त मुख्य है। यदि श्रावक दान-पूजा नहीं करता है तो वह श्रावक नहीं है। उसीप्रकार मुनि धर्म में ध्यान अध्ययन मुख्य हैं, यदि मुनि ध्यान, अध्ययन नहीं करता है तो मुनि नहीं है।

**दानं धम्मं चागं ण भोगं ण बहिरणं जो पतंगो सो ।**

**लोहं कसायग्मुहे पडिदो मरिदो ण संदेहो॥ 12॥**

जो दान, धर्म, त्याग नहीं करता है तथा अनर्गत पूर्वक आशक्ति पूर्वक

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

भोग करता है, परंतु संयमपूर्वक नहीं रहता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी है, वह लोभकायरूप अग्नि में पतंग के समान पड़ता है, मरता है, संसार में दुःखी होता है।

**जिण पूया मुणिदाणं करेदि जो देदि सतिरुवेण ।  
समादिष्ठी सावय-धम्मी सो होदि मोक्षमग्ग रद्वो॥ 13॥**

जो शक्ति अनुसार देव पूजा करता है, मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक धर्म को पालन करने वाला धर्मात्मा मोक्ष मार्ग में रत है, निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त करने वाला है।

**दाणु ण दिण्णउ मुणिवरुहु ण वि पूजिजउ जिणणाहु ।**

**पंच ण वंदय परम गुरु किमु होसइ सिवलाहु॥ (परमात्म प्रकाश )**

आध्यात्मिक आचार्य योगीन्द्र देव बताते हैं, हे भव्य! तूने मुनियों को भक्ति पूर्वक दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा नहीं की, पंच परमगुरुओं की सेवा-वंदन-भक्ति आदि नहीं की तो किस प्रकार तुझे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

### देवपूजा:-

**पुण्णस्स कारणं फुहु पद्मं हवइ देव पूजाय ।**

**कायब्बा भतीए सावय गग्गेण परमाए ॥ 425॥ भावसंग्रह**

पुण्य प्राप्ति के लिये देवपूजा निश्चय से प्रथम कारण है इसलिये श्रावक वर्ग को अतिशय भक्ति से प्रतिदिन देव पूजा करनी चाहिये।

देवपूजा से अशुभ कर्मों का संवर एवं निर्जरा होती है, अतिशय आत्म विशुद्धि होती है, जिससे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है और उससे सातिशय पुण्य बंध होता है, जो कि स्वर्ग मोक्ष का कारण है, इसलिये योग्य श्रावक को मन-वचन-काय शुद्धि पूर्वक द्रव्य-भावात्मक पूजा नित्य करनी चाहिये।

### जिनदर्शन महिमा:-

**दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम् ।**

**दर्शनम् स्वर्गसोपानं दर्शन मोक्ष साधनम् ।**

**दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां तन्देनन च ।**

**न तिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम्॥**

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

वीतरागमुखं दृष्ट्वा पद्मराग समग्रभम् ।  
नैकजन्म कृतं पापं दर्शनेन विनश्यति ॥  
दर्शनं जिनसूर्यस्य संसार धानानाशनम् ।  
बोधनं चित्तपद्मस्य समस्तार्थं प्रकाशनम् ।  
दर्शनं जिनचंद्रस्य सञ्चर्मामृतवर्षणम् ।  
जन्मदाहविनाशाय वर्धनं सुखवारियधेः ॥  
जन्म जन्म कृतं पापं जन्मकोटिमुपार्जितम् ।  
जन्म मृत्युजरा रोगं हन्यते जिनदर्शनात् ॥  
एया वि सा समथा जिणभती दुग्गाइ णिवारेण ।  
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिः परंपरा सुहाणं ॥ 749 ॥ (भगवती आराधना)  
वीण विण ससं इच्छादि सो वासमभ्याण विणा ॥  
आराधणमिच्छन्तो आराधण भक्तिमकरंतो ॥ 750 ॥

अकेली जिनभक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है, इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है, और मोक्ष प्राप्ति होने तक इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है, इससे इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, अहमिन्द्र पद, और तीर्थकर पद के सुखों की प्राप्ति होती है।

जो भगवान् की भक्ति—आराधना नहीं करना चाहता है तथा रत्नत्रय सिद्धि रूप फल की इच्छा रखता है, वह पुरुष बीज के बिना धान्य प्राप्ति की इच्छा रखता है, अथवा मेघ के बिना जलवृष्टि की इच्छा करता है।

**तीहि कारणेहि पद्म सम्मत मुण्डा देति- केइ जाइस्सरा ।**

**केइ सोऽण, केइ जिणर्बिं दद्वृण ॥ सूत्र 22 ॥ (ध. पु. 6 पे 427)**

पूर्वोक्त पंचेन्द्रिय तिर्यच तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं – कितने ही तिर्यच जाति–स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिंब दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं।

कथं जिणबिंब दंसण पद्म सम्मतुप्तीए कारणः?

जिणबिंब दंसणेण णिधत्त णिकाचिदस्त वि मिच्छतादिक कम्मकलावस्त खय दंसणादो । तथा चोक्तं :-

दर्शनेन जिणेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम् ।

शतधा भेदमायादि गिरिर्ज्ञहतो यथा ॥ 1 ॥ (ध.पु. 6 पे. 427-428)

**शंका:-** प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है?

**समाधान :-** जिनबिंब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्व रूपी कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है। जिससे जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है। कहा भी है:-

जिनेद्वां के दर्शन से पाप संघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिसप्रकार कि वज्र के आधात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

प्रत्येक कार्य अन्तरंग-बहिरंग कारणों से होता है। सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिये अन्तरंग कारण सम्यग्दर्शन प्रतिबंधक कर्मों का उपशम क्षयोपशम, क्षय, निमित्त है तथा बहिरंग कारण जिनबिंब दर्शन, जाति स्मरण, धर्म उपदेश, देवर्त्तिदर्शन, वेदनानुभवादि है। जिनबिंब अचेतन होते हुए भी मूर्ति की वीतरागता, सौम्यता आदि माध्यम से जो आत्म विशुद्धि होती है उसके कारण जो वज्र के समान निकाचित-निधत्ति कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, जिसप्रकार वज्रपात से पर्वत भी टुकड़े टुकड़े हो जाता है।

**निकाचित -निधत्ति कर्म:-** जो कर्म उदय, उपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण योग्य नहीं हो उसी कर्म को निकाचित कर्म कहते हैं। वह स्थिति पूर्ण होने पर ही उदय में आकर फल देता है।

उपरोक्त प्रकार कर्म अकृत्रिम, कृत्रिम अथवा साक्षात् भगवान के दर्शन से नष्ट हो जाता है तो सामान्य कर्म की बात क्या है। इसलिये भव्य जीव को भक्तिपूर्वक भगवान् के दर्शन- पूजा-अभिषेकादि करना चाहिये। यह कोई रुढ़ी अथवा मिथ्यात्व नहीं है और पुण्य बंध का मात्र कारण नहीं है, परंतु साक्षात् आत्म विशुद्धि एवं सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिये भी कारण है। जिनमंदिर, जिन प्रतिमा, जिन दर्शन, जिनपूजा प्रतिष्ठादि अर्वाचीन पद्धति नहीं है, अन्य परम्परा से आगत नहीं है।

**जिनचैत्य-चैत्यालय का स्वरूपः**

जैनियों के परमपूज्य परमोक्तृष्ट प्रातः स्मरणीय नवदेवता हैं। यथा (1) अरहंत (2) सिद्ध (3) आचार्य (4) उपाध्याय (5) सर्व साधु (6) जिन चैत्य

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

(7) जिनचैत्यालय (8) जिनधर्म (9) जिनागम।

जिनचैत्य एवं जिन चैत्यालय कृत्रिम एवं अकृत्रिम दोनों प्रकार के होते हैं। जिन चैत्य अर्थात् जिनबिंब पञ्च परमेष्ठियों का भी होता है।

**अकृत्रिम चैत्यः-**

चमर करणाग जकरवग बतीसं मिहुण गेहि पुह जुता।

सरिसीए पंतीए गभगिहे सुहु सोहंति ॥ 987 ॥ त्रिलोकसार  
सिरिदेवी सुददेवी सब्बाणह सणकुमार जकरवाण।

रुवाणि य जिनपासे मंगलमषु विहमवि होदि ॥ 988 ॥

भिंगर कलस दर्पण तीय ण धय चामराद वतमहा।

सुवड्ह मंगलाणि य अहुहिय सयाणि पतेयं ॥ 989 ॥

वे जिन प्रतिमाएँ, चमरधारी नागकुमारों के 32 युगलों और यक्षों के 32 युगलों सहित पृथक् पृथक् एक एक गर्भ गृह में सदृश पंक्ति से भली प्रकार शोभायमान होती है। उन जिन प्रतिमाओं के पार्श्वभाग में श्री देवी, श्रुतदेवी, सर्वाहृ यक्ष और सानकुमार यक्ष के रूप अर्थात् प्रतिमाएँ हैं, तथा अष्टमंगल द्रव्य भी होते हैं। ज्ञारी, कलश, दर्पण, पंखा, ध्वजा, चामर, छत्र और ठोना ये 8 मंगल द्रव्य हैं। ये प्रत्येक मंगल द्रव्य 108, 108 प्रमाण होते हैं। तिलोयपण्णति में कहा है:-

सिरिसुददेवीण तहा सब्बाणह सणकुमार जकरवाण।

रुवाणि पतेङ्कं पडिवर रयणाइ रइदाणि ॥ 1881 ॥

प्रत्येक के प्रतिमा के प्रति उत्तम रलादिकों से रचित श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाणह व सानकुमार यक्षों की मूर्तियाँ रहती हैं।

**कृत्रिम चैत्य :-**

प्रतिहार्याष्टकोपेतं, सम्पूर्णविहरं शुभम्।

भावरूपानु विज्ञांगं, कारयेद् विम्बमर्हतः ॥ 69 ॥

प्रतिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धविम्बमप्यदृशम्।

सूरीणं पाठकानां च, साधूनाम् च यथागमम् ॥ 70 ॥

(वसुनन्दि प्रतिष्ठा पाठ तृतीय प्रतिष्ठेद)

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

अष्ट प्रातिहार्य से युक्त सम्पूर्ण अवयवों से सुन्दर तथा जिनका सन्निवेष (आकृति) भाव के अनुरूप है ऐसे अरिहंत बिम्ब का निर्माण करें।

सिद्ध प्रतिमा शुद्ध एवं प्रातिहार्य से रहित होती है। आगमानुसार आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की प्रतिमाओं का भी निर्माण करें।

**जिनेन्द्र पूजा विधि:-**

**द्रव्य सहित भाव पूजा:-** लोभ कषाय के उदय के कारण श्रावक सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर नहीं पाता है इसलिये वह परिग्रहधारी है। परिग्रह के ऊपर आशक्ति ही बंध का कारण है।

“ रतो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग सम्पणो ”

इस सिद्धांतानुसार बाह्य वस्तु में जो आशक्ति है वह बंध का कारण है और वैराग्य भाव, निर्मोहभाव विमुक्ति का कारण है। वैराग्य भाव को प्रगट करने के लिये लोभ कषाय परित्यागपूर्वक द्रव्य पूजा सहित भाव पूजा करे। श्रावक कषायवान, इच्छावान, कामीभोगी होने के कारण उसका मन निरालम्बन ध्यान और पूजा में स्थिर नहीं हो सकता है। यदि स्थिर होता है तो वह काम भोगों के लिये बाह्य द्रव्यों का आवलम्बन क्यों लेता है ? परिग्रह संचय क्यों करता है ? बाह्य परिग्रहों के हानि वृद्धि में सुख-दुःख का अनुभव क्यों करता है ?

इसलिये आचार्य ने द्रव्य सहित भाव पूजा करने के लिये कहा है :-

द्रव्यस्य शुद्धि मधिगम्य यथानुसत्पं

भावस्य शुद्धिमधिकामधिगनुकामः ।

आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन् ।

भूतार्थ-यज्ञ-पुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥ 11 ॥

मैं यथायोग्य द्रव्य भाव शुद्धि पूर्वक विभिन्न अवलम्बन को लेकर परम पूज्य, परम आराध्य, वीतराग सर्वज्ञ भगवान् का भूतार्थ यज्ञ (पूजा) करता हूँ।

द्वेषापि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजननाम् ।

न विघते द्वये लोके दुर्लभं वस्तुपूजितम् ॥ 15 ॥

(अध्याय 12 अमित गति ग्रावकाचार)

संसार को जीतने वाले जिनेन्द्र देव की द्रव्य और भाव से पूजा करने वाले पुरुष को यह लोक परलोक में कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नहीं है। “सुद परिचिदाणुभूदा सवस्स वि काम भोग बन्ध कहा ” काम भोग बन्ध की कथा इस

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

149

## ॐ शश्वत् रुद्राणि रुद्राणि रुद्राणि रुद्राणि

जीव ने सुनी, परिचय लिया, अनुभव लिया, रचा—पचा उसमें ही लीन रहा इसलिये मन उसके ओर ही दौड़ता है। उस अत्यन्त चंचल अशुभ मन को आत्मा की ओर परिवर्तन करने के लिये प्रशस्त द्रव्यों का अवलम्बन चाहिये। जिस प्रकार बच्चे व बन्दर मन मोहकारी वस्तु को प्राप्त कर उसमें रमायमान हो जाते हैं। उसीप्रकार मन भी उत्तम देव, शास्त्र, गुरु एवं उनकी प्रतिकृति (मूर्ति) सुन्दर, सरस, सुगन्धित, प्रशस्त पूजा द्रव्यों के माध्यम से धर्म में रमायमान होता है। यह श्रावक अवस्था से अवलम्बन भूत है। जब श्रावक ढृढ़ होकर मुनि हो जाता है तब उस बाय पूजा द्रव्य की विशेष आवश्यकता नहीं रहती है। जब तक श्रावक है तब तक द्रव्य पूर्वक भाव पूजन करना अनिवार्य है ऐसी जिनाज्ञा है।

**उक्तारिक्तुं मंते अहिसेयं कुण्ड देवदेवस्त।**

**णीर धय खीर दहियं रिवत अणुकमेण जिण सीसे ॥ ४४१ ॥ भावसंग्रह  
एहवणं काऊण एणो अमलं गंधोदयं च रंदिता।**

**सव लहणं च जिणिंदे कुण्ड कस्सीर मलएहि ॥ ४४२ ॥**

अभिषेक के श्रोक और उनके मंत्र बोलकर जिन प्रतिमा का मस्तक से पानी, धी, दूध, दही से अनुक्रम अभिषेक करें, अभिषेक के पश्चात् भक्तिपूर्वक अपने सिर पर गंधोदक को धारण करें उसके बाद केशर, चंदन आदि सुगन्धित पदार्थों से जिनेन्द्र प्रतिमा का लेप पूर्वक अभिषेक करें।

**जिनेन्द्र भगवान् की अभिषेक विधि :-**

**आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिस्या पीठियां चतुष्कुम्भयुक्।**

**कोणायां सकुशश्चियां जिनपतिं न्यस्यानामाप्येष्टदिक्।**

**नीरज्याम्बुर साज्य दुग्धदधिभिः सिकता कृतोद्घर्तन**

**सिकतं कुम्भजलैस्य गन्धसलिलैः सम्पूज्यनुत्वा स्मरेत् ॥ २३ ॥**

( षष्ठ अधिकार सागर धर्मामृत )

अभिषेक करने की प्रतिज्ञा करके जहाँ पर भगवान् का अभिषेक करना है, वहाँ की भूमि की विशुद्धि करके चतुष्कुम्भ से युक्त है कोणा जिनकी ऐसी तथा जिसपर श्री लिखा हुआ है तथा कुश रखा हुआ है ऐसी पीठिका पर (सिंहासन) जिनेन्द्र भगवान् को स्थापित करके आरती उतारकर इष्ट दिशा में अर्थात् पूर्व दिशा में स्थित होकर जल, फलरस धृत, दुग्ध, दधि के द्वारा अभिषेक

## ॐ शश्वत् रुद्राणि रुद्राणि रुद्राणि रुद्राणि

करें। उर्द्धतन अर्थात् चंदन का अनुलेपन करके चारों कोण के कलशों से तथा सुगन्धित जल से अभिषेक करें। तथा जल—चन्दनादि अष्ट द्रव्य से पूजा करके और नित्य वन्दनादि विधि से नमस्कार करके अपने हृदय में भगवान् को विराजमान करके अपनी शक्ति के अनुसार भगवान् का ध्यान करें व जाप करें।

**कुबंते अभिसेयं महा विभूदीहि ताण देविदा।**

**कंचन कलसगदेहि विमल जलेहि सुगंधेहि ॥ १०४ ॥ ( तिलोयपण्णति ॥**

**देवेन्द्र महान् विभूति के साथ इन प्रतिमाओं का सुवर्ण—कलशों में भरे हुए सुगन्धित निर्मल जल से अभिषेक करते हैं।**

**कुंकुम कपूरेहि चंदन कालागरुहि अण्णेहि।**

**ताण विलेवणाइं ते कुबंते सुगन्धेहि ॥ १०५ ॥**

**वे इन्द्र कुंकुम, कपूर, चंदन, कालागुरु और अन्य सुगन्धित द्रव्यों से उन प्रतिमाओं का विलेपन करते हैं।**

**कुन्देन्दु सुन्दरोहि कोमल विमलेहि सुरभिंगंधेहि।**

**वर कलम तंडुलेहि पूजंति जिणिंद पडिमाओ ॥ १०६ ॥**

ये कुन्द पुष्प व चन्द्रमा के समान, सुन्दर, कोमल, निर्मल और सुगन्धित उत्तम कलम धान्य के तंदुलों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

**सयवंतं ग यं पंथमाला पुण्णाय तणाय पहुदीहि।**

**अक्वंति ताओ देवा सुरहीहि कुसुमलाहि ॥ १०७ ॥**

**वे देव सेवती, चम्पकमाला, पुनाग और नागप्रभूति सुगन्धित पुष्प मालाओं से उन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।**

**बहु बिहइ सवंतेहि वर भक्तवेहि विचित रुवेहि।**

**अमय सरिछेहि सुरा जिणिंद पडिमाओ महयंति ॥ १०८ ॥**

ये देवगण बहुत प्रकार के रसों से संयुक्त, विचित्र रूप वाले और अमृत के सटूश उत्तम भोज्य पदार्थों से (नैवेद्य) जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

**तिफुरिद किरण मंडल मंडिद भवणेहि रथण दीरेहि।**

**णिकज्जल कलुसेहि पूजंति जिणिंदि पडिमाओ ॥ १०९ ॥**

**देवीप्यमान किरण समूह से जिन भवनों को विभूषित करने वाले और कज्जल एवं कलुषता से रहित ऐसे रत्नदीपकों से इन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।**

## ॐ शश्वत् रुद्राणि रुद्राणि रुद्राणि रुद्राणि

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

वासिद दियंतरेहि कालाग्रु पमुह विविह धूर्वेहि ।

परिमलिद मंदिरेहि महयंति जिणिंद विबाणि ॥ 110 ॥

देवगण मंदिर एवं दिग्मंडल को सुगन्धित करने वाले कालाग्रु प्रभूति अनेक प्रकार के धूपों से जिनेन्द्र बिम्बों की पूजा करते हैं।

दक्खा दाडिम कदली णारंग य माहुलिंग चूदेहि ।

अणोहि वि पक्षेहि फलेहि पूजंति जिणणाहं ॥ 111 ॥

दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुए फलों से वे जिननाथ की पूजा करते हैं।

णिस्सेण कम्मकरणेकक हेदुं मण्णंतया तथ जिणिंद पूजं ।

सम्मत विरया कुब्वंति णिक्कं देग महाणंत विसोहि पुञ्च ॥ 228 ॥

वहाँ पर अविरत सम्यग्दृष्टि देव जिन पूजा को समस्त कर्मों के क्षय करने में एक अद्वितीय कारण समझकर नित्य ही महान् अनंत गुणी विशुद्धि पूर्वक उसे करते हैं।

**अभिषेक पूजा का फल :-**

जलधारा णिकरवेण पापमलं सोहणं ह्वे णियमं ।

चन्दनलेवेण णरो जावई सोहग संपण्णो ॥ 423 ॥ (वसु श्रा.)

पूजन के समय नियम से जिन भगवान् के आगे जलधारा के छोड़ने से पापरूपी मैल का संशोधन होता है। चन्दन रस के लेप से मनुष्य सौभाग्य से संपन्न होता है।

जायइ अकर्यणिहि रथणसामिओ अकर्वष्टही अकर्वोहो ।

अकर्वीण लहिद जितो अकर्वय सोकर्वं च पारेइ ॥ 484 ॥

अक्षतों से पूजा करने वाला अक्षय नौ निधि और 14 रलों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। सदा अक्षोभ अर्थात् रोग, शोक रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से संपन्न रहता है और अंत में अक्षय मोक्ष सुख को पाता है।

कुसुमेहि कुसुसेय वर्यणु तरुणी जन णयण ।

कुसुम वरमाला वलारणच्चियदेहो जयइ कुसुमातहो चेव ॥ 485 ॥

पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुखवाला तरुणी जनों के नयनों से और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से समर्चित देहवाला काम देव होता है।

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश

जायइ णिविज्ज दाणेण सतिगो कंति-तेय संपण्णो ।

लावण्ण जलहि वेला तरंग संण्णविय सरीर ॥ 486 ॥

नैवेद्य के चढ़ाने से मनुष्य शक्तिमान, कंति और तेज से सम्पन्न और सौंदर्यरूपी समूह की वेला (टट) वर्ती तरंगों से संस्लावित शरीर वाला अर्थात् अतिसुन्दर होता है।

दीवेहि दीविया सेस जीव दव इतत्व सभावो ।

सभाव जणिय कैवल पइवतेण होइणरो ॥ 487 ॥

दीप से पूजा करने वाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुए केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीव द्रव्यादि तत्त्वों के सदस्य को प्रकाशित करने वाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है।

धूतेण सिसिरर धवलकिति धवलिजयतओ पुरिसो ।

जायइ फलेहि संपत्त परमणिकाण सोकर्व फलगे ॥ 488 ॥

धूप से पूजा करने वाला मनुष्य चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति से जगत्रय को धवल करने वाला अर्थात् त्रैलोक्य व्यापी यशवाला होता है फलों से पूजा करने वाला मनुष्य परम निर्वाण का सुख रूप फल पाने वाला होता है।

घंटाहि घंटा सदातलेसु परव च्छण्णमच्छमि ।

संकीउइ सुर संघाय सेविओ वर विमाणेसु ॥ 489 ॥

जिन मंदिर में घंटा समर्पण करने वाला मनुष्य घंटाओं के शब्दों से आकुल अर्थात् व्याप, श्रेष्ठ विमानों में सुर-समूह से सेवित होकर प्रवर अप्सराओं के मध्य में कीड़ा करता है।

घतोहि एदतं भुजेह पुद्धरी सवत्त परिहिणो ।

चारम दाणेण तहा विजिज्जइ चमरणवि हेहि ॥ 490 ॥

छत्र पूजन करने से मनुष्य शत्रु रहित होकर पृथ्वी को एक छत्र भोगता है। तथा चमरों के दान से चमरों के समूहों द्वारा परिविजित किया जाता है, अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते हैं।

अहिसेय फलेण णरो अहिसिंचज्जइ सुदसणसुवरि ।

रतीरोय जलेण सुरिद्यमुह देवेहि भतीए ॥ 491 ॥

जिन भगवान् के अभिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शन मेरु के ऊपर

## ॐ शश शश शश शश शश शश

## ॐ नमः शत्रुघ्ने

क्षीर सागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषिक्त किया जाता है।

**विजय पडाएहिणरो संग्राम मुहेसु विजइओ होइ।**  
**अकर्खंड विजयणाहो णिष्पिवकर्खो जसस्सी य ॥ 492 ॥**

जिन मंदिर में विजय पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है। तथा षट् खंडरूप भारत वर्ष का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है।

**किं जंपिण बहुणा तीसु ति लोएसु किं विजं सोकर्खं।**  
**पूजा फलेण सबं पाविज्जइ णथि संदेहो ॥ 493 ॥**

अधिक कहने से क्या लाभ है, तीनों ही लोक में जो कुछ भी सुख है वह सब पूजा के फल से प्राप्त होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

**एकापि समर्यं जिनभक्तिदुर्गतिं निवारयितुम्।**  
**पुण्यानि च पूरयितुंदातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ 8 ॥**

(पूज्यपाद, समाधिभक्तिः)  
 एक ही परम जिनभक्ति भक्त का समस्त दुर्गतियों का निवारण करने के लिये, सातिशय पुण्य को संपादन करने के लिये एवं मोक्ष पदवी देने के लिये समर्थ होता है।

**देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हणम्।**  
**कामदुहि कामदाहिनी परिचिनु याद्वाद्वौ नित्यं ॥ 119 ॥** (रत्नकरण)

The worshipping of the feet of the Deva of devas (Holy Tirthankara) the best owner of desired good and the consumer of cupid's Shatts, is the remover of all kinds of Pain (For this reason it) Should be performed reverently everyday,

श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम वेदना को भस्म करने वाले इन्द्रादिक द्वारा वंदनीय अरहंत भगवान् के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली भगवान् की पूजा करें।

**देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्।**  
**राजेन्द्र चक्रमवनीन्दृशिरोऽर्चनीयम्।**

## ॐ नमः शत्रुघ्ने

धर्मन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्।

लक्ष्मा शिवं च जिनभक्तिरूपैति भव्यः ॥ 42 ॥ (रत्नकरण)

जिनेन्द्र भगवान् में सातिशय अनुराग को रखने वाला जिनेन्द्र भक्त सम्प्रदृष्टि जीव अपरिमित प्रतिष्ठा और ज्ञान से सहित इन्द्र समूह की महिमा को प्राप्त करता है। 32 हजार मुकुट बद्ध राजाओं से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्र रत्नों को प्राप्त करके चक्रवर्ती बनता है। केवल इस प्रकार अभ्युदय सुख का अधिकारी नहीं होता है परंतु समस्त लोक से पूजनीय धर्मचक्र के अधिपति होकर अर्थात् तीर्थकर बनकर शेष त्रिलोक का प्रभु स्वरूप सिद्ध भगवान् बनकर मोक्ष साप्राप्य को प्राप्त करता है।

अरहंत णमोऽकारं भावेण य जो करेदि पयदमदि।

सो सब दुःख मोक्षं पावदि अचिरेण कालेण ॥ (मूलाचार)

जो उत्कृष्ट मतिवाला अरहंत भगवान् को भाव पूर्वक नमस्कार करता है वह समस्त दुःख से अचिरकाल से अर्थात् अतिशीघ्र मुक्त होकर मुक्त अवस्था को प्राप्त करेगा।

**अरिहंत भक्ति में तीर्थकर बन्थः-**

अरिहंत भत्तीए-ख्वीद घादिकम्मा केवलणाणेण द्विस्तव्वदा अरहंतणाम्। अथवा णित्विदिद्धु कम्माण। घाइद्घादि कम्माणं च अरहंतेति स्तुणा अरिहणं पदि दोहणं भेदा भावादो। तेसु भत्ती अरहंत भत्ती। ताए तिथ्यर कम्म वज्ज्ञइ। कथमेत्थ सेस्कारणाणं संभवो? बुद्धदे अरहंत बुत्ताणु दण्णु वत्ताणं तदण्णुटाण पास्तो वाअरहंत भत्तीणाम न च एस्ता दंसण विसुज्ज्ञदादीहि विणा संभवइ, विरोहादो। तदो एस्ता एकार सम्मं काराणं ॥ ध्वला प्र 5 से 89 ॥

अरहंत शक्ति से तीन लोक को क्षुभित करने वाला सातिशय पुण्य स्वरूप और परंपरा मोक्ष के लिये निश्चित कारण है, इसीप्रकार का तीर्थकर नामकर्म बंधता है। जिन्होंने घातियाँ कर्म को नष्ट करने वाला सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है वह अरहंत अथवा 8 कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध और घातिया कर्मों को नष्ट करने वालों का नाम (अरहंत सकल परमात्मा) है क्योंकि कर्म शत्रु के नाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है। उन अरहंतों में जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है वही अरहंत भक्ति कहलाती है। इस अरहंत भक्ति से तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

**शंका :-** केवल अरहंत भक्ति में अन्य भावनाओं की संभावना कैसे है ? (क्योंकि 16 भावनाओं से तीर्थकर नाम कर्म बंधता है तो केवल अरहंत भक्ति से किसप्रकार बंध हो सकता है ?)

**समाधान :-** अरहंत के द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उस अनुष्ठान के स्पर्शों को अरहंत भक्ति कहते हैं। और यह दर्शन विशुद्धि आदि बिना ऐसा संभव नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है। अतएव अरहंत भक्ति तीर्थकर प्रकृति बंध का 11 वाँ कारण है।

उपरोक्त सिद्धांत से सिद्ध होता है कि जहाँ अरहंत भक्ति द्वारा वहाँ दर्शन विशुद्धि, विनय संपन्नता आदि संपूर्ण भावना का सद्भाव है क्योंकि अरहंत भक्ति जब होती है तब हृदय में सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ अरहंत भक्ति हो ही नहीं सकती है। उपरोक्त समस्त सिद्धांत से सिद्ध होता है, कि देव दर्शन, अरहंत भक्ति सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिये कारण, पाप कर्मों की निर्जरा के लिये कारण निधन्ति, निकाचित कर्म नष्ट के लिये कारण, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, तीर्थकर प्रकृति के लिये कारण है। इसलिये मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये कारण है। इसलिये आचार्य ने बताया है “बन्दे तद्गुण लब्ध्ये”। भक्त ही भक्ति के माध्यम से संपूर्ण कर्म को नष्ट करके भगवान् बन जाता है।

“दासोऽहं रटता प्रभो! आया जब तुम पास।

द दर्शन ही हृत गयो “सोऽहं” रहो प्रकाशु॥

“सोऽहं सोऽहं” ध्यावतो रह नहीं सको सकार।

‘दीप’ ‘अहं’ मम हो गयो अविनाशी अविकार॥

**गुरुपास्ति:- ( साधुसेवा )**

जैन धर्मरूपी रथ-श्रावक और मुनि चक्र रूपी अवलंबन से गति शील होता है। उसमें से एक भी चक्र के अभाव में धर्म रूपी रथ आगे नहीं बढ़ सकता—जब तक जीवंत धर्म स्वरूप मुनियों का सद्भाव रहेगा तब तक धर्म रहेगा, — तब तक श्रावक भी रहेंगे। क्योंकि, “न धर्मो धार्मिकोर्वाना” इसलिये दूरदृष्टि एवं सूक्ष्मदृष्टि सम्पन्न धर्म प्रवर्तकों ने एवं प्रचारकों ने धर्म की स्थिरता एवं धर्म की गतिशीलता के लिये विनय वैयावृत्य, वात्सल्य, उपगृहन, स्थितिकरण और प्रभावनादि धर्मप्रचार-प्रसार का उपाय रखे हैं।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

सेज्जागासणिसेज्जा उवधिपडिलेहंणां उवगगहिदे।  
आहारो सह वायण वि किं वणुत्वत्तणादीमु ॥ 305 ॥ (भगवती आराधना)  
अज्ञाण तैण सावयरायणादीरा धे गासिरे ऊमे।  
वैज्ञावच्चं उत्तं संगहणारक्खणी वैदं ॥ 306 ॥

शयनस्थान, बैठने का स्थान, उपकरण इनका शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देकर उपकार करना, स्वाध्याय, अर्थात् उपदेश (व्याख्यान) करना, अशक्त मुनि का मैला उठाना, उसे करवट दिलाना बैठाना वगैरह कार्य करना, थके हुए साधु के हाथ पैर दबाना, नदी से रुखे हुए अथवा रोग पीड़ित का उपद्रव विद्या आदि से दूर करना, दुर्भिक्ष पीड़ित को सुभिक्ष देश में लाना ये सब कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं।

### वैयावृत्य न करने में दोष

एदे गुण महल्ला वैज्ञावच्युज्जदस वैयाय।  
अप्पद्विदो हु जायदि सज्जयं चैव कुर्वतो ॥ 329 ॥

वैयावृत्ति से इसप्रकार महान् गुण होते हैं, स्वाध्याय करने वाला तो आत्म प्रयोजन ही साधता है परन्तु वैयावृत्ति करने वाला स्वपर का उद्धार करता है।

अणिगूहिद बलविरओ वैज्ञावच्चं जिणोपदेसेण।  
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदी णिद्धमो ॥ 307 ॥

तिथिधराणा कोधो सुदधम्म विराधणा अणायारो।  
अप्पापरो पवयणं च तैण णिजूहिदं होदि ॥ 308 ॥ भ. आ.

समर्थ होते हुए तथा अपने बल को न छिपाते हुए भी जिनोपदिष्ट वैयावृत्य जो नहीं करता है वह धर्म भ्रष्ट है।

जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र, कथित धर्म का नाश, अपना साधु वर्ग का व आगम का त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्य न करने से उत्पन्न होते हैं।

**वैयावृत्य के प्रयोजन व फल :-**

गुण परिणामो सद्गा वच्छलं भक्ति पत्तलंभीय।  
संधाणं तवपूया अबोच्छिती समाधि य ॥ 309 ॥

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् ॥

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

आणा संजम सरिल्लादा य दाणं च अविदिग्निषाय ।

वैज्ञावक्षस गुणा प्रभावणा कज्जपुण्णाणि ॥ 310 ॥ भ. आ.

गुण ग्रहण के परिणाम श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुनः संधान तप, पूजा, तीर्थ, अव्युचिति, समाधि ॥

जिनाज्ञा, संयम, सहार्य, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना, कार्य निर्वाहण ये वैयावृत्य के 18 गुण हैं ।

समाध्याधान विचिकित्सा भाव प्रवचन वात्सल्याधाभि व्यक्त्यर्थम् ॥

(राजवार्तिक ॥ सर्वार्थसिद्धि 442 ॥

यह समाधि की प्राप्ति विचिकित्सा का अभाव और प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिये किया जाता है ।

**वैयावृत्ति से तीर्थकर नाम कर्म का बंधः-**

साहृषुं वैज्ञावद्य जोग जुतदाएव्यावृत्ते यत्कियते तद्वैयावृत्यम् । जेण सम्मत्त-  
णाण-अरिहंत-बहुसुर भक्ति पवयण वच्छ ल्लादिणा जोवो जुज्जश्व वैज्ञावच्ये सो  
वैज्ञावच्ये जोगो दंसणविसुज्जदादि तेण जुतदा वैज्ञावच्ये जोग जुतदा । ताए  
विहाए एककाए वि तित्थयराणा कम्मं बंधइ । एथ सेस्तकार णाणं जहा संभवेण अंत  
भावोक्तव्यो । एवमेंद्र दस्य कारणं ।

साधुओं के वैयावृत्य योग युक्तता से तीर्थकर नाम कर्म बंधता है । वैयावृत्य अर्थात् रोगादि व्याकुल साधु के विषय में जो सेवा औषधादि देना, उपसर्ग, परिषह दूर किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है ।

जिस सम्यक्त्व-ज्ञान-अरिहंत भक्ति-बहुश्रुत भक्ति एवं प्रवचन वात्सल्यादि से जीव को वैयावृत्य में लगाता हो वह वैयावृत्य योग है अर्थात् दर्शन विशुद्धतादि गुण है । उनसे संयुक्त होने नाम का नाम वैयावृत्य योग युक्तता है । इस प्रकार की उस एक ही प्रकार की वैयावृत्य युक्तता से तीर्थकर नाम कर्म बंधन है । यहाँ शेष कारणों का यथा संभव अंतर्भाव करना चाहिये, इस प्रकार यह दसवाँ कारण है ।

कुंदकुंद स्वामी ने प्रवचनसार में बताये हैं कि वैयावृत्य मुनियों की अपेक्षा श्रावकों का मुख्य कर्तव्य है ।

जो अंतरंग में अहंकारी, अविनयी हैं और जिनकी धर्म के प्रति, गुरु के प्रति प्रीति नहीं है वह साधु सेवा नहीं कर सकता है । वैयावृत्य से अभिमान,

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

अविनयता दूर होती है । ऋजुता, नम्रता कोमलता आदि गुण प्रगट होते हैं । वैयावृत्य अंतरंग तप है । एक सतत ज्ञानेपयोगी साधु से भी वैयावृत्य करने वाला साधु श्रेष्ठ है । क्योंकि वह स्व पर उपकार करता है परंतु स्वाध्याय वाला केवल स्व उपकार करता है । स्वाध्याय करने वाले पर विपत्ति आयेगी तो उसे वैयावृत्य वाले के मुख की तरफ ही देखना पड़ेगा ऐसा भगवती आराधना की 329 गाथा में कहा है ।

**स्वाध्यायः-**

स्वाध्याय केवल शुद्ध आगम अर्थात् द्रव्य श्रुत का पढ़ना, रटना, स्वाध्याय नहीं है । परंतु द्रव्य श्रुत के माध्यम से भाव श्रुत द्वारा स्व आत्म द्रव्य का अध्ययन करना, जानना, शोध करना, प्राप्त करना यथार्थ स्वाध्याय है ।

**प्रज्ञातिशय प्रश्नताध्यावसायः** परमसंयमस्तपोवृद्धिनिरतिचार विशुद्धि दित्येवमाध्यः ॥

प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिये, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिये परम संवेग के लिये, तपवृद्धि व अतिचार शुद्धि के लिये संशयोच्छेद व परवादियो की शंका का अभाव ) आदि के लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है । (राजवार्तिक)

द्रव्य सुयादो भावं भावदो होइ सज्ज सण्णाणं ।

संवेयण वित्ति केवल णाण तदो भणियो ॥ 1 ॥ नय चक्र

गाहिओ सोसुदणाणे पच्छा सवेयणेण कायब्लो ।

जोणहु सुदमवलंबइ सो मुज्जइ अण्ण सम्भारे ॥ 34 ॥ नयचक्र

द्रव्य श्रुत से भावश्रुत होता है । भावश्रुत से भेद विज्ञान होता है । उससे संवेदन, आत्म संवित्ति और केवलज्ञान होता है ।

पहले श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ग्रहण करके संवेदन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिये । जो श्रुत ज्ञान का अवलंबन नहीं लेता है वह आत्मस्वभाव में मृढ़ रहता है ।

जिणवयण मोसहमिणं विसय सुह विरेयणं अभिद भूयं ।

जर मरण गाहि हरणं रथ करणं सज्ज दुक्खवाणं ॥ दंसण पाहुङ् ॥

यह जिन वचन रूप औषधि इंद्रिय विषय से उत्पन्न सुख को दूर करने वाला है । तथा जन्म मरण रूप रोग को दूर करने के लिये अमृत सादृश है और सर्व‘दुःखों के क्षय का कारण है ।

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात् 159 ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

१४ शास्त्रं बदोऽे शांति सैरके निर्गर्वं नीति मेल्वात् मुक्ती खी चिते किञ्जात्म  
चितने किलवेलक तल्लदा शास्त्रादि।

**दुर्विर्वितने दुर्मुखं कलहमुं गर्व मनंगोङ्ज।**

**शास्त्रं शास्त्रं मे शारिकनला रत्नाकरा धीस्वरा॥ रत्नाकर शतक**

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शांति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना मोक्ष चिंता तथा स्वात्म चिंता में विरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है। इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर नियों की चिंता, क्रोध, मान, माया आदि से विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र बन जाता है। और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाता है। अभिप्राय यह है कि, शास्त्र ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिये करना चाहिये।

जिस स्वाध्याय के माध्यम से आत्मतत्त्व का परिज्ञान होता है, हिताहित ज्ञान प्रगट होता है, कषाय इन्द्रियों का दमन होता है, संसार शरीर भोगों से वैराग्य होता है, मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति होती है, वात्सल्य, प्रेम, विनय, सरलता देव, गुरु, शास्त्र के प्रति बहुमान, शांति प्रगट होती है, उसको स्वाध्याय कहते हैं। अन्यथा उसका स्वाध्याय केवल द्रव्य स्वाध्याय है जो मोक्ष मार्ग के लिये अकिञ्चकर है।

**संयम :-**

जिसप्रकार एक कार के लिये गति चाहिए, प्रकाश चाहिये उसी प्रकार रोधक शक्ति-ब्रेक भी चाहिये। ब्रेक नियंत्रण के बिना कार बेकार है। उसी प्रकार मानव जीवन में उन्नति रूप गति चाहिए, साथ साथ इन्द्रिय और मन को नियंत्रण करने रूप ब्रेक भी चाहिये नहीं तो वह मानव भी बेकार है। उस नियंत्रण शक्ति को ही संयम कहते हैं। “सम्यक् यमो वा संयमः” सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण सो संयम है। उस संयमरूपी अस्त्र (सम + यम) के माध्यम से संसार रूपी यम को नष्ट कर सकते हैं। अन्यथा नहीं। पूर्ण संयमी यमी महामुनी हो सकते हैं। किन्तु श्रावकों को भी आंशिक रूप से संयम पालना करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इसलिए श्रावक को देश संयमी कहते हैं। संयम १२ प्रकार के हैं। पाँच इन्द्रिय का निरोध एक मन निरोध और षड्काय जीवों के संरक्षण को संयम कहते हैं।

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 160 ॐ शत्रुघ्ने

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

**तपः-**

इच्छा आकाश के समान अनंत है। जिस इच्छा रूपी आकाश में संपूर्ण विश्व एक सरसों के समान है। जब एक ही जीव की इच्छारूपी खड़े में यह संपूर्ण विश्व सरसों के दाने के समान है, तो अनंत जीवों के लिये उस सरसों समान विश्व का भाग करने से एक जीव के भाग में कितना प्राप्त होगा। अथवा जिस प्रकार अग्नि के ऊपर धृत डालने से अग्नि बढ़ती जाती है। अग्नि संतुष्ट नहीं होती। उसी प्रकार इच्छा रूपी व आशा रूपी अग्नि में परिग्रह रूपी धृत डालने से आशा रूपी अग्नि शांत नहीं होती किन्तु बढ़ती ही जाती है। इसीलिये ज्ञानी श्रावक उस इच्छारूपी अग्नि को शांत करने के लिये तपरूपी पानी डालते हैं। उसको महान शांति मिलती है। इसलिये ‘‘इच्छानिरोध तप’’ महर्षियों ने बताया है। वह भी यथायोग्य अतंरंग-बहिरंग रूपी १२ प्रकार का तप धारण करता है।

**दानः-**

चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से लोभ कषाय के वशवर्ती होकर श्रावक संपूर्ण बाह्य परिग्रह का त्याग नहीं कर पाता है, वह गृह में रह कर असि मषि कृषि व्यापारादि आरंभ करके परिग्रह संचय करता है। भोग उपभोग भी करता है। उससे जो पाप संचय होता है उस पाप को नष्ट करने के लिये, कषायों को क्षीण करने के लिये, देव गुरु, शास्त्र की सेवा, संरक्षण के लिये, आत्म विशुद्धि के लिये, सातिशय पुण्य संपादन के लिये और परंपरा से आत्मोत्थ सहज सरल अतीन्द्रिय सुख के लिये ज्ञानामृत के आस्वादन के लिये (१) आहार (२) औषध (३) शास्त्र (४) अभ्यदान शक्ति के अनुसार दान देता है। जो यथाशक्ति दान नहीं देता है वह “दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा” इस सूत्र के कारण श्रावक ही नहीं है। पुरुषार्थ सिद्धिउपाय में आध्यात्मिक महर्षि अमृतचन्द्र जी कहते हैं।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परान्नं पीडयते।  
वितरति यो नाऽतिपये स कर्यं नहि लोभवान भवति ॥

जो रत्नत्रय एवं मूल गुणादि से सहित और अन्य पीड़ा नहीं देते हुए मधुमक्खी के समान जो आहार ग्रहण करते हैं, उसीप्रकार महान गुण सम्पन्न महामुनि जब घर पर आते हैं, उनको जो श्रावक आहार दान नहीं देते हैं वह

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 161 ॐ शत्रुघ्ने

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत् तत्

कैसे लोभी नहीं है अर्थात् वह निश्चय से महालोभी कंजूस है।

**दिण्डि सुपत् दाणं विसेसतो होई भोग सगमही।**

**णिवाण सुहं कमसो णिद्विषुं जिणवरि देहिं ॥ 16 ॥ (रणसर)**  
रवेत्विसेस काले विय सुवियं फलं जहां पिडलं।

**होई तहा तं जाणइ पतविसेसेसु दाण फलं ॥ 1 ॥**

**इह णियसु सुवित बीजं जो ववई जिणुत्सत्तरवेसेसु।**

**सो तिहुण रज्जफलं भुंजदि कल्लाण पंचफलं ॥**

जो भक्ति पूर्वक, सुपात्र को दान देता है विशेष से उन्हें भोगभूमि स्वर्गसुख मिलता है। और क्रमशः परम निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार स्वयं जिनेन्द्र भगवान कहे हैं।

जैसे उत्तम खेत में बोया हुआ उत्तम बीज काल विशेष को प्राप्त होकर विपुल फल को देता है उसी प्रकार पात्र विशेष को दिया हुआ बीज स्वरूप अल्पदान भी काल प्राप्त होने पर स्वर्ग मोक्षरूपी विपुल फल को प्राप्त करता है। जो अपने न्यायपूर्वक उपर्जित धनरूपी बीज को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित जिनप्रतिमा –जिनमंदिर जिनगुरु रूपी सप्त क्षेत्र में बोता है उसको त्रिभुवनरूपी राज्यफल मिलता है एवं पंचकल्याणक धारी तीर्थकर पद को प्राप्त करता है।

**जो मुनि भृतवसेसं भुंजइ सो भुंजाए जिणुवद्वि।**

**संसार सार सोकर्वं कमसो णिवाण वर सोकर्वं ॥ 11 ॥ (रणसर)**

जो भव्य मुनीश्वरों के आहार दान के पश्चात अवशेष अन्न को भक्ति पूर्वक खाता है वह संसार के सारभूत उत्तम सुख को प्राप्त करता है। और क्रमशः निर्वाण सुख भी प्राप्त करता है।

**सर्वांहति सौरव्यमेव तनुचतन्मोक्ष एवं स्फूटं।**

**दृष्ट्यादिग्रय एवं सिद्ध्यति स तन्निर्गथ एवं स्थितम् ॥ पद्मनंदी पंच वि..)**

**तदवर्तिर्वपुरुषोऽस्य वृति रशनातद्वीयते श्रावकैः काले।**

**विलष्ट तरेऽपि मोक्षपदवी ग्रायतातो वर्ती ॥ 8 ॥**

सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं, वह सुख स्पष्टतया मोक्ष में ही है। वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है। वह रत्नत्रय साधु को होता है। उक्त साधु की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है। और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल

**ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत् तत्**

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत् तत्

में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकों के निमित्त से ही हो रही है।  
**दानांश**

**तृप्यशो वा षडंशो वा दशांशो वा निजार्थतः।**

**दीयते यातु सा शक्तिर्वर्या मध्या कनीयस ॥ (धर्मरत्नाकर अ. 12)**

जो अपने धन में अर्थात् दैनिक आय में से चतुर्थभाग दान देता है वह उत्कृष्ट दानी है जो षष्ठांश दान देता है वह मध्यम दानी है जो दशांश दान देता है वह जघन्य दानी है।

**धर्मस्तैर्यं स्यात्कस्यचिच्चंचलयस्य।**

**प्रौढं वात्सल्यं वृहणं सद्गुणानाम् ॥**

**दानेन श्लाघा शासनस्यातिगुर्वी ।**

**दातृणामित्यं दर्शनाचारशुद्धिः ॥ ध. र.**

दान देने से किसी चंचल धर्म मार्ग से च्युत होते हुए सा धार्मिक की उसमें स्थिरता होती है, धार्मिकों में प्रौढ़ (अतिशय) वात्सल्य प्रगट होता है। धार्मिकों में सद्गुणों की वृद्धि होती है तथा दान देने से जिन शासन की बड़ी प्रशंसा होती हैं। इसप्रकार दाता जन के दर्शनाचार की शुद्धि होती हैं।

**औदार्यवर्यं पुण्य दक्षिण्यमन्यतः।**

**समशुद्धो बोधः पातकात्याज्जुगुप्ता ॥**

**आरव्यातं मुख्यं सिद्धधर्मस्य।**

**लिंगं लोकभेयस्तदातुरोपपन्नम् ॥ 108 ॥**

श्रेष्ठ उदारता, पवित्रता, मृदुता या सरलता, निर्मलता पाप से ग्लानि तथा लोकप्रियता से अनादि सिद्ध धर्म के चिन्ह कहे गये हैं और ये सब गुण दाता को ही प्राप्त होता है।

**तीर्थोन्नतिः परिणतिश्च परोपकारे।**

**ज्ञानादि निर्मल गुणावलिकाभिवृद्धिः।**

**वित्तादि वस्तुविषये च विनाश वृद्धिः ।**

**संगदिता भवति दानवतात्मशुद्धिः ॥ 109 ॥**

दान देने से तीर्थ की उन्नति, दाता की परोपकार परिणति (प्रवृत्ति) ज्ञानादि निर्मल गुण समूह की वृद्धि धन आदि वस्तुओं में नश्वरता का विचार और दाता की आत्मशुद्धि भी है।

**ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत् तत्**

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

सीदंति पश्यतां येषां शक्तानामपि साधवः ।  
न धर्मा लौकिकोऽप्येषां दूरे लोकोत्तराः स्थितः ॥ 110 ॥

दुःख को दूर करने में समर्थ होकर जो श्रावक साधु जन को कष्ट में देखकर भी उनके दुख को दूर नहीं करते हैं, उनके लौकिक धर्म भी संभव नहीं हैं, फिर भला लोकोत्तर धर्म तो उनसे बहुत दूर है। ऐसा समझना चाहिये।

ज्ञानदान ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।  
अन्नदानात्सुखी नित्यं निव्याधिभर्षजात्प्रवेत् ॥

ज्ञान दान से दानी विशिष्ट क्षायोपशम के माध्यम से मतिश्रुत, अवधि, मनः पर्याय ज्ञानी होता है। श्रुत केवली होता है एवं शेष में केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाता है। अभय दान से इहलोक-परलोक में निर्भय होता है। अन्न दान से इहलोक-परलोक में सुखी होता है। औषध दान देने से शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोग से रहित होकर परम स्वास्थ्य रूप अमृत रूप पद को प्राप्त करता है।

यस्यान्पणैः संतृप्ताः साधवः साधयन्तरमी ।  
स्वाध्यायादि क्रिया सार्वी तस्य पुण्यं तदुद्घवम् ।

जिस दाता के अन्न पानी से तृप्त हुए मुनिजन आत्म हितकर सब स्वाध्यायादि क्रियाओं को करते हैं, उसमें उत्पन्न हुआ पुण्य उस दाता को प्राप्त होता है।

**दान अभाव से दोषः-**

सीदंतो यथयो यदप्यनुचितं किञ्चिजलान्नादिकं ।  
स्वीकुर्वति विशिष्ट भक्ति विकलाः कालादि दोषाद्वाहो ।  
मालिन्य रघयंति यज्जिनमतस्यास्थानशय्यादिना ।  
श्राद्धानामिदमेति दूषण पदं शक्तानुपेक्षा कृपाय ॥ 401 ॥

रोगादि से पीड़ित साधुजन विशिष्ट भक्ति से रहित होते काल आदि के दोष से यदि अपने पद के अयोग्य जल व अन्नादिक का स्वीकार करते हैं तथा अयोग्य वसति व शय्या आदि का ग्रहण करके जिनमत में मलिनता को उत्पन्न करते हैं तो यह दोष शक्ति होने पर भी उपेक्षा करने वाले श्रावक पर आता है। उसे श्रावकों का दोष समझना चाहिये।

दान तीर्थ और धर्म तीर्थ की अपेक्षा तीर्थ दो प्रकार का है। दान तीर्थ के

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

माध्यम से शरीर की रक्षा होती है। और शरीर के माध्यम से धर्मपालन होता है। “शरीरमाध्यम खलु धर्मसाधनम्” धर्मपालन से इहलोक में अलौकिक सुख मिलता है। इसलिये श्रावकों को धर्मतीर्थ प्रवर्तन के लिये दान देना चाहिये।

**दान पूजादि क्या पाप बंध का कारण ?**

शंका :- पूजा दानादिक से आरंभ होने से हिंसा होती है और उससे पाप बंध होता है। इसलिये दान पूजादिक नहीं करना चाहिये।

नकुदधिदुर्ध गंधमाल्यादिना भगवतः पूजाभिदाने पापमप्युपाजर्यते लेशतः  
सावद्य सद्ग्रावत् इत्याशंक्याह ।

त्री जिनेन्द्र भगवान की दही-दूध-गंध-फूल मालादि से पूजा करने से पाप उत्पन्न होता है क्योंकि उस पूजादि से ( में) सावद्य है। (पापात्मक आरंभादिक हैं )

समाधान:- पूजातिशय पूज्य भगवान् आपकी पूजा करने से भव्य जीवों को सातिशय महत् पुण्य उपार्जन होता है। यद्यपि पूजादिक सामग्री लाना, धोना, स्वच्छातादि करने से पाप उत्पन्न होता है तथापि वह पाप इतना कम है कि, पूजादि से उत्पन्न पुण्य से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपना कार्य करने के लिये अशुभ कर्म फल देने के लिये असमर्थ हो जाता है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय को तृप्त करने वाले ठंडे पानी से भरा समुद्र में एक कण विष पड़ने से उस संपूर्ण समुद्र को वह विष कण दूषित नहीं कर पाता है।

प्रारम्भोऽप्येष पुण्याय देवाद्युद्देशतः कृतः ।

सामग्यंतरं पातिता ज्जीवनाय विषं यथा ॥ 339 ॥

देव, शास्त्र, गुरु के उद्देश से किया गया महान् आरंभ भी उसकी सामग्री के अन्तर्गत होने से पुण्य के लिये होता है। जैसे विष इतर सामग्री से युक्त होने पर जीवन के लिये प्राण रक्षा का कारण होता है।

भिन्न हेतुक एवायं भिन्नात्मा भिन्न गोचरः  
भिन्नागु वंधस्तेन स्यात्पुण्यवंधनिर्वंधनम् ॥ 340 ॥

इस आरंभ का चूंकी हेतु भिन्न, स्वरूप भिन्न, विषय भिन्न संबंध भी भिन्न है। इसलिये वह पुण्य बंध का कारण होता है।

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

लोभादि हेतुकः पापारंभो गैहादि गोचरः  
पापानुवंधी संत्याज्यः कार्योऽन्यः पुण्य साधनः ॥ 341 ॥

लोभ के कारण जो गृह कुटुंबादि के विषय में आरंभ किया जाता है वह पाप का बंधक होने से छोड़ने के योग्य है। परंतु दूसरा जिनगृह जिनप्रतिमा के निर्माणादि तथा आहार दानादि विषयक आरंभ पुण्य का बंधक होने से आचरणीय है।

धर्मरिभस्तस्य रज्यति जनः कीर्ति पराजायते ।  
राजानोऽनुगुणा भवैति रिपवो गच्छति साहायकम् ॥  
चेतः कांचन निवृत्तिं च लभते प्रायोऽर्थमलाभःपरः ।  
पापारंभ भरा धनार्थं विरतिश्चेति प्रतिता गुणाः ॥ 342 ॥

जो भव्य धर्म के निमित्त आरंभ से निरत होता है, उससे लोग प्रेम करते हैं। उसे उत्तम कीर्ति का लाभ होता है, राजा उसको अनुकूल होता है, शत्रु सहायक होता है। उसका चित्त किसी अभूतपूर्व शांति को प्राप्त होता है। उसे प्रायः बहुत धन का लाभ होता है। तथा वह प्रचुर पापारंभ से परिपूर्ण अनर्थों से निरर्थक कर्मों से विरक्त होता है। इसप्रकार धर्मारंभ भी तत्पर भव्य के ये प्रसिद्ध गुण हुआ करते हैं।

न मिथ्यात्वाद्यमादाद्वा कषायाद्वा प्रवर्तते ।  
श्राद्धो द्रव्यस्तवे हेन तस्य वंघोऽस्ती नाशुभः ॥ 343 ॥

श्रावक चूंकि मिथ्यात्व से , प्रमाद से , अथवा कषाय से द्रव्य स्तव में पूजा-प्रतिष्ठा एवं दानादिरूप बाह्य संयम में प्रवृत्त नहीं होता है, इसलिये उसको अशुभ का बंध नहीं होता है ।

कृष्णादि कर्म बहुजंगय जंतुधाति ।  
कुर्वति ये गृह परिग्रह भोगसक्ताः ॥  
धर्माय रंथनकृतां किलपापेषाः ।  
मेरं वदन्नापि न लज्जित एव दुष्ट-ना ॥

जो गृहस्थ घर, परिग्रह तथा भोगों में आसक्त होकर बहुत से त्रस जीवों के घात के कारण भूत खेती आदिक कार्यों को करते हैं उन्हें धर्म के लिये भोजन को तैयार करने में पाप का भागी कहने वाले दुष्टों को लज्जा नहीं आती ? तात्पर्य

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

मुनियों को आहार देने के लिए जो आरंभ होता है उससे पाप अल्प और पुण्य महान् होता है। अतः ऐसे आरंभ का निषेध करना अनुचित है।

एवं विधस्याय बुधस्य गाव्यं सिञ्चात् गाव्यं बहु बाधकं च ।

मूढा दृढं प्रद्धधौते कर्द्याः पापे रमतेऽमत्याः सुखेन ॥

जो अज्ञानी जन लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार बोलने वाले मूर्ख के भी आगम बाह्य और अतिशय बाधक जिनवचनपर स्थिर श्रद्धा करते हैं वे दुर्बुद्धि पाप में आनंद से रममाण होते हैं ऐसा समझना चाहिये ।

**पुण्य-पापः:-**

**शंका :-** भले पूजादि से पापबंध से बच सकते हैं किन्तु पुण्य बंध से नहीं बच सकते हैं। पुण्य भी संसार का कारण है। यथा-

कम्मसुहं कुशीलं सुहकमं चावि जाणह सुसीलं ।

किंह त होदी सुसीलं जं संसार पवेसेदि ॥ 145 ॥ (समयसार )

अशुभ कार्य कुशील पापरूप है। शुभ कार्य पुण्य सुशील स्वरूप है। ऐसा साधारण जन कहते हैं। परंतु शुभ कार्य सुशील कैसे हैं ? जो कि संसार रूप कारागार में प्रवेश करने के लिये कारण है।

जई भणइ कोवि एवं गिह वावरेसु वह माणोवि ।

पुण्णे अहं कज्जं संसारे जंसुवाडेई ॥ 389 ॥ ( भावसंग्रह )

गृहवास में रहते हुए भी और गृह व्यापार से प्रवृत्त होते हुए भी कोई कहता है कि हमको पुण्य नहीं चाहिये क्योंकि पुण्य संसार में गिराने वाला है।

**समाधानः:-**

मेहुणसण्णारुदो मारइ णवलकर्खसुहुम जीवाई ।

इदं जिणवरेहि भणियं बज्जंतर णिग्गंथ रुवेहि ॥ 390 ॥

गेहे वद्वतस्स य वावरसयाइ सया कुणंतस्स ।

आसवइ कम्मसुहं अद्वृद्वे पवत्तस्स ॥ 391 ॥

जाम ण छड़इ गेहं तामण परिहरइ इंतयं पावं ।

पावं अपरिहतो हैउ पुण्णस्स भजयउ ॥ 393 ॥

उपरोक्त कुशंका का समाधान देते हुए आचार्य प्रवर देवसेन ने नय एवं अवस्थाओं का अवलंबन लेकर स्याद्वाद पद्धति से उसका समर्थ एवं आगमोक्त उत्तर दिये हैं।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शश्वत् अद्यते न विहृतः

बाह्य अभ्यंतर ग्रन्थों से रहित जिनेन्द्र भगवान् ने बताया है कि एक बार मैथुन संज्ञा से सहित होकर मनुष्य जब भोग करता है तब लिंग और योनि के संघर्षण से 9 लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य जातीय लब्ध्य पर्याप्ति की ओर का घात करता है।

पहले जीव मैथुन मोह कर्म के उदय से निर्मल ब्रह्मचर्य रूपी आत्म स्वरूप का घात करता है। उस समय जिस प्रकार सरसों से भरे हुए पात्र में संतप्त लौह शलाका डालने पर सरसों जल जाते हैं उसी प्रकार योनि गत 9 लाख लब्ध्य पर्याप्ति मनुष्य जीव भी जल जाते हैं।

गृह में रहते हुए हजारों गृहव्यापारों को सदा करते हुए अत्यन्त अशुभ आर्द्ररौद्र परिणाम से अशुभ कर्म का आस्रव करता है जो कि एकांत से संसार का कारण होने से अत्यन्त हेय स्वरूप है।

जब तक आर्द्र-रौद्र ध्यानों का निवास स्वरूप गृहवास को त्याग नहीं करते हैं तब तक अत्यंत इन पापों का त्याग नहीं हो सकता है। यदि पाप का त्याग नहीं होता है तो पुण्य कारणों को मत छोड़ो।

**पुण्यं कुरुत्व  
कृतपुण्यमनीदृशोऽपि ।**

**नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भर्त्यै ॥**

**संतापयन् जगद्शेषमशीतरश्मिः ।**

**पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् ॥ 31 ॥ (आत्मानुशासन)**

हे भव्य जीव! तू पुण्य कर्म को कर, क्योंकि पुण्यवान प्राणी के ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये संपत्ति का साधन बन जाता है। देखो, समर्त संसार को संतप्त करने वाला भी सूर्य कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है।

**यथांगमध्यक्षं सुखे हि धर्मस्तथा परोक्षऽपिच मौक्ष सौरव्ये ।**

**भौगाय भौगादी सुखाय धर्मो मित्रादि यत्नोऽपि निमित्तमात्रम् ॥ 13 ॥**

(धर्म रत्नाकर)

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मौक्ष सुख का भी कारण है। भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है। इस सुख के लिये मेत्रादिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है।

ॐ शश्वत् अद्यते न विहृतः 168 ॐ शश्वत् अद्यते न विहृतः

## ॐ शश्वत् अद्यते न विहृतः

**पुण्य का लक्षणः-**

पुन्नात्यात्मानं पूयते ऽनेनेति वा पुण्यम्। (सर्वार्थ सिद्धि)

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह पुण्य है।

यस्तु शुद्धात्म भावना साधनार्थं बहिरंग व्रतं तपश्चरण दानं पूजादिकं करोति स यरंपराया मोक्षं लभते इति भावार्थं ॥

शुद्धात्मा भावना को सिद्ध करने के लिये अथवा प्राप्त करने के लिये बहिरंग व्रत तपश्चरण, दान, पूजादिक को जो करता है वह परंपरा से मोक्ष को प्राप्त करता है। (समयसार 15 म.गा. जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति)

**पावागम दाराइं अणाइरुवष्टि याइं जीवमि ।**

**तथा सुहासवदारं उग्धादेतकयं सदोसो ॥ 57 ॥ (जय धवला)**

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है तब तक जीव अनादिकाल से पाप बंध ही करता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही सातिशय पुण्य का आस्रव होता है जीव में अनादिकाल से पापास्रव के द्वारा स्थित हैं। उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव द्वारा का उद्धाटन करता है। अर्थात् पापास्रव के कारण भूत सम्यग्दर्शन, दया, दानादि में प्रवृत्त होता है। वह कैसे सदोष हो सकता है? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता है। इसलिये प्राथमिक जीव को परंपरा से मोक्ष के साधन भूत पुण्य को निदान रहित होकर सतत उपार्जन करना चाहिये।

**सालम्बन एवं निरालम्बन-ध्यानः-**

शंका:- अवलम्बन ध्यान से पुण्य होता है और अशुभ ध्यान से पाप होता है। ये दोनों संसार के कारण हैं। इसलिये दोनों विकल्पों से उपरम होकर शुद्धात्मानुभूतिरूप निरालम्ब ध्यान क्यों नहीं करना चाहिये।

**समाधानः-**

जो मणिकोई एवं अतिथि गिहत्थाण णिच्चलं झाण ।

सुद्धं च णिरालम्बं ण मुणिः सो आगमो जइणो ॥ 382 ॥ (भाव संग्रह)

ॐ शश्वत् अद्यते न विहृतः 169 ॐ शश्वत् अद्यते न विहृतः

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

कहियाणि दिहिवाए पहुच गुण नाण जाणि झाणाणि ।

तग्गा स देस विरओ मुकवं धमं ण ज़ज्ञाई॥ 383॥

जो कोई कहता है कि गृहस्थी को निश्चल निरालम्ब, शुद्ध, ध्यान होता है वह यतियों के आगम को नहीं जानता है। दृष्टिवाद अंग में जो गुणस्थान को लेकर ध्यान का वर्णन है उससे सिद्ध होता है कि देश विरत पंचम गुणस्थान श्रावकों को मुख्य (उत्कृष्ट) धर्मध्यान नहीं होता है।

**गृहस्थों को उत्कृष्ट धर्मध्यान नहीं होने का कारण:-**

कि जं सो गिहवनो बहिरंतर गंथ परिमिओ णिक्वं ।

बहु आरंभ पउत्तो कह झायइ सुद्धमण्णाण॥ 384॥

घरवावारा केई करणीया अतिथ तेण ते सब्वे ।

ज्ञाणहियस्स पुरओ चिद्वंति णिमीलियक्षिस्स॥ 385॥

गृहस्थ सतत बाह्य धन धान्य, स्त्री, पुत्र परिग्रह एवं कामक्रोधादि अंतरंग परिग्रह से वेष्ठित रहता है। कृषि व्यापारादि आरंभ से लीन रहता है। इसी प्रकार बाह्य विषय में लीन रहने वाला गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान किस प्रकार कर सकता है। अर्थात् नहीं कर सकता।

गृहस्थ व्यापार को करता हुआ उसका मन, इन्द्रियाँ, भाव उसमें ही तल्लीन रहते हैं जिस समय में वह ध्यान करने के लिये आँख बन्द कर बैठता है उसके सामने संसार-व्यापार मनसूपी चल चित्र के परदे पर अंकित होते हैं। वह उस समय में हाथ में तो माला फिराता है और मन बाजार में घूमता है।

ग पुष्पमधवा खृं खरस्यापि प्रतीयते ।

न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिगृहाश्रमे ॥ 17॥ (ज्ञानार्णवः)

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परंतु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि ग्रेना किसी देश व काल में संभव नहीं है।

**अप्रमत्त गुणस्थान में मुनि को निरालम्ब ध्यान होता है-**

जं पुण वि णिरालम्बं तं झाणं गयपमाय गुण नाणे ।

चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिण लिंग रुवस्स॥ 381॥ (भावसंग्रह)

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

जो गृहस्थाग करके निर्ग्रथ जिनलिंग को धारण किया है इसी प्रकार अप्रमत्त गुणस्थावर्ती मुनियों को निरालम्ब ध्यान हो सकता है। गृहस्थों को नहीं।

**अरसमसुपमगंधं अकं चेदणागुणमसद्वं ।**

**जाण अलिंगगहणं जीद मणिद्विषु संठाणं ॥ 127॥ (पंचात्मिकाय)**

अलिंगगहणं यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनयेन घूमाद्विनवदशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादि विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञानसमुत्पन्न परमानन्दरूपानुकूलत्व सुस्थित वास्तव सुखामृतजलेन पूर्णकलशवत्सर्व प्रदेशेषुभृतितावस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतराणां न भवतीत्यलिंगव्यहणः। ( श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः)

**गाथार्थ :-**— शुद्ध आत्मा रस, रूप, गंध रहित है। संसारी जीव के समान शुद्ध जीव प्रगट नहीं है इसलिये अप्रगट है। चैतन्य गुण से पूर्ण है। शब्द रहित है, इन्द्रियादि चिह्नों से ग्रहण करने में अयोग्य है, निराकार है।

**टीकार्थ :-**

रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान से समुत्पन्न परमानन्द रूप अनाकूलत्व सुस्थित, वास्तविक, सुखामृत जल के द्वारा पूर्ण कलश के समान सर्व प्रदेश में भे हुए अवस्था को प्राप्त परम मुनियों को जैसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष होता है उसीप्रकार अन्यों को शुद्धात्मा का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है। किन्तु अनुमान लक्षण के द्वारा परोक्षज्ञान से व्यवहार नय से धूम से अग्नि का ज्ञान जैसे होता है उसीप्रकार आत्मा का परोक्ष ज्ञान परमयोगी (ध्यानावस्थापन्न मुनि) को छोड़कर यथा योग्य अन्यों को होता है जैसे दूरस्थ पर्वतादि के ऊपर धूम अग्नि का साक्षात् दर्शन नहीं होता है परंतु बिना अग्नि से धूम नहीं होता है। इस न्याय के अनुसार अनुमान से ज्ञात होता है। कि वहाँ पर अग्नि है इसी प्रकार गुरु के उपदेश से, शास्त्राध्ययन, मनन, चित्तन, अनुप्रेक्षा से परम मुनि को छोड़कर अन्यों को अशुद्धात्मा का अनुमान से ज्ञान होता है।



## उपसंहार

लहिंणदेससंजम सयलंगा होइ सुरोत्मोसगे ।  
मोतूण सुहे रमे पुणो वि अवधरइ मण्यते ॥ 596 ॥  
तथ वि सुहाइ भुता दिक्खा गहिंण भविय णिगंधो ।  
सुवक्त्ताणं पाविय कर्मं हणिंण सिज्जेइ ॥ 597 ॥

जो देश र नम को अर्थात् श्रावक के व्रतों का पालन करता है अथवा मुनि धर्म का पालन करता है उस सातिशय पुण्य के कारण उत्तम स्वर्ग में जन्म लेता है। वहाँ पर रम्य, मनोहर भोगों को भोगकर पुनः उत्तम मनुष्य को प्राप्त होता है। वहाँ पर उत्तम भोग को भोगकर पूर्व संस्कार के कारण सातिशय पुण्य के प्रभाव से दीक्षा लेकर मुनिव्रत को धारण कर शुक्लध्यान को प्राप्त करके कर्म नष्ट करके सिद्धगति को प्राप्त करता है, इसीप्रकार गृहस्थ के व्रत से सातिशय पुण्य प्राप्त होता है, पापों का संवर, निर्जरा होती है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है।  
**सातवाँ गुणस्थान - ( सकल-संयमी-मोक्ष मार्ग के उत्कृष्ट यात्री )**

जब भव्य सम्यादृष्टि देश संयम रूपी पुरुषार्थ से कर्म शक्ति का हास करके आत्मशक्ति की वृद्धि करता है तब उसकी मोक्षमार्ग की यात्रा तीव्र हो जाती है। तब वह अवशेष बाह्य परिग्रहों को पूर्णरूपसे त्याग सहित अन्तरंग परिग्रह को त्याग कर वह जिनेन्द्र भगवान के यथाजात रूप को धारण करता है। वह तीर्थकर का लघुनंदन बन जाता है।

**वत्तावत्तप्रमादे जो णिवसइ पमतं संजदी होइ ।**

**सयल गुणसील कलिओ महात्वई वितलायरणो ॥ 601 ॥ (भाव संग्रह )**

जो महाव्रतीधारी मुनि व्यक्त अव्यक्त प्रमाद से सहित है, सर्वगुण शील मण्डित है, चित्रलाचरण से सहित है। ( प्रमाद के कारण आचरण से मिश्ररूप परिणाम) उनके प्रमत्तविरत छठा गुणस्थान होता है।

**मुनियों का स्वरूप :-**

णाहं होमि परसिं णमे परे णत्यि मज्जमिह किति ।

इदि णिच्छिदो जिणिंदो जादो जध जाधरुध धरो ॥ 204 ॥ (प्रवचनसार

मैं दूसरों का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं इसलोक में मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा

निश्चय करके जितेन्द्रिय होता हुआ यथाजात् रूप धारी निर्ग्रन्थ मुनि बनजाता है।

**शंका:-**— जब आत्म द्रव्य त्याग आदान, व्रत, अव्रत, संकल्प, विकल्प, से रहित है तब इसप्रकार बाह्य द्रव्यों अर्थात् संसार, स्त्री, कुटुम्ब का त्याग एवं व्रतों का पालन रूपी संकल्प विकल्प क्यों करना चाहिये ?

**समाधान:-**

“पाडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छादि दुक्खं परिमोक्तवं” ॥ 201 ॥ (प्रवचनसार)

यदि सम्पूर्ण दुःख से प्रकृष्ट रूप से विमुक्त होना चाहते हो तो श्रामण्य दीक्षा को अंगीकार करो। अन्यथा मोक्ष नहीं मिल सकता है।

**णिक्षेल पाणिपतं उवङ्गुं परमजिणवरिदेहि ।**

**एको वि मोक्षमग्नो सेसा य अमग्ना सब्वे ॥ 10 ॥ ( अष्टाहुड़ )**

परम जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित अचेलकत्व एवं पाणिपात्र स्वरूप को प्राप्त करो। क्योंकि ये ही प्रकृष्ट मोक्ष का प्रकृष्ट मार्ग है शेष मार्ग उन्मार्ग हैं, मिथ्यामार्ग हैं।

**द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धिः चरणस्य सिद्धौ ।**

**बुद्ध्वेति कर्मा विरताः परेऽपि द्रव्याविसर्जं चरणं चरंतु ॥ 13 ॥**

(अमृतचन्द्र की टीका)

द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। ज्ञान से आत्म विशुद्धि होती है उससे विवेक प्रगट होता है, हेय को त्याग करता है, उपादेय को ग्रहण करता है, बाह्य द्रव्यों से उपेक्षा भाव धारण करता है। आत्म स्वरूप को जानने के बाद ज्ञानी आत्म स्वरूप से विरोध कार्य अर्थात् आचरण नहीं करता है, बाह्य कर्मों से विरक्त होकर आत्मशुद्धि के लिये चारित्र पालन करता है। जब तक आत्म अविरुद्ध चारित्र पालन नहीं करेंगे तब तक सर्व कार्य से निवृत्त होकर आत्मोपलब्धि रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

**मुनियों का कर्तव्य :-**

ज्ञायइ धम्मज्ञाणं अद्वं पि य णोकसाय उदयाओ ।

**सञ्ज्ञाय भावणाए उवसामइ पुणु वि ज्ञाणम्भि ॥ 603 ॥ (भाव संग्रह )**

मन धर्मध्यान को ध्याता हैं कभी कभी तो कषाय के उदय से आर्तध्यान भी हो जाता है। उस आर्तध्यान के उपशमन के लिये स्वाध्याय, अनुप्रेक्षाओं का

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

चिंतवन करते हैं। प्रमादवशतः मूलगुण उत्तरं गुण में अतिचार आदि लगने पर निंदा, गर्हा, प्रतिक्रमणादि करता है। जब मन धर्मध्यान में स्थिर नहीं रहता है, तब स्वाध्याय स्तुति वंदनादि करता है।

**शंका :-** मुनि गृहादि क्रिया को छोड़कर मूलगुण रूप क्रिया को करता है। क्रिया की अपेक्षा दोनों समान होने से बंध भी समान है। अशुभ को छोड़कर अहिंसाव्रत देववंदनादि शुभक्रियाओं से पुण्य बंध होता है क्योंकि शुद्ध की अपेक्षा शुभ अशुभ है, बन्ध की अपेक्षा पुण्य पाप समान है। मुनि धर्म ही बन्ध स्वरूप है। और बन्ध स्वरूप होने के कारण संसार का कारण है।

**समाधान :-**

**सेतु सुद्धो भावो तस्सुवलंबो य होइ गुणद्वा।  
पणदह प्रमाद रहिये सयलवि चारितं जुत्स्स ॥ 605 ॥ (भाव संग्रह)**

शुद्धभाव आत्म का स्वरूप होने से अत्यन्त उपादेय एवं ग्रहण करने योग्य है। इस शुद्ध भाव की प्राप्ति 15 प्रमाद से रहित सकल चारित्र से शोभित महामुनियों को अप्रमत्तगुणस्थान आदि में होती है।

**छहुमए गुणठाणे वहुंतो परिहरेइ छावासं।  
जो साहु सो ण मुण्डि परमागमसार संदोह ॥ 606 ॥  
अहर मुण्ठंतो छंडइ सत्वावासइं सुतवज्ञाइं।  
तो तेण होइ चतो सुआगमो जिनवरिदस्स ॥ 607 ॥**

जो छट्ठा गुणस्थान में प्रवर्तन करते हुए देव वंदना, स्तुति, स्वाध्याय, प्रतिक्रमणादि का त्याग करता है वह परमागम के रहस्य को नहीं जानता है। अथवा जानता हुआ भी सूत्र निबद्ध आवश्यकों का त्याग करता है। वह जिन भगवान द्वारा प्रतिपादित आगम का ही त्याग किया। और जिनागम के त्याग के कारण सम्यक्त्व को ही त्याग कर दिया। इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। इसलिये जब तक निश्चल रूप से निश्चल ध्यान नहीं होता है तब तक षट् आवश्यक क्रिया को व्रत सहित पालन करना चाहिये।

**यम नियमों का फल:-**

**णाणादिरयण तियमिह सज्जं तं साधयंति जमणियमा।  
जत्थ जमा सस्सदिया णियमा णियतप्प परिणामः ॥ 2 ॥ (मू.आ.)**

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप साध्य है। यम और नियम इस रलत्रय रूप साध्य को सिद्ध करने वाले हैं, साधन के बिना साध्य सिद्ध नहीं होती है। इसलिये महाव्रतादि यम सामायिकादि नियम के बिना रलत्रय की सिद्ध नहीं हो सकती है। इसलिये मैथ के लिये व्रतादि अनिवार्य है। जो महाव्रतादि आजीवन पालन किया जाता है उसे यम कहते हैं। सामायिकादि अल्पकालावधि होने से यम कहलाते हैं।

**मूलगुणेसु विसुद्धे वंदिता सब संजदे सिरसा।  
इहपरलोग छिदत्ये मूलगुणे कित्तिस्सामि ॥ 1 ॥**

इह शब्दः प्रत्यक्षवचनः परशब्द उपरतेन्दिद्यः जन्य वचनः लोकथद्धः सुरे.रादि वचनः। इह च परश्चेहपरौ तौच तौ लोको च इह पर लोकौ ताभ्यांतयोर्वा हितं सुखैश्वर्य पूजा सत्कार चित्तनिवृत्तिफलादिकं तदेवार्थः प्रयोजनं फलं येषां ते इहपरलोकहितार्थस्तपान् इह लोक परलोक सुखैश्वर्यादि निमित्तान्।

इहलोके पूजां सर्वं जनमान्यतां गुरुतां सर्वजनकैत्रीभावदिके च लभते मूलगुणानाचरन् परलोके च सुखैश्वर्यतीर्थकरत्वं चक्रवर्तीबलदेवादिकत्वं सर्वजनकान्ततादिकं च मूलगुणानाचरन् लभते इति। मूलगुणान् सर्वोधर गुणधारतां गतप्रान्नचरणविशेषतान्।

‘इह’ शब्द प्रत्यक्ष को सूचित करने वाला है। ‘पर’ शब्द इन्द्रियातीत जन्म को कहने वाला है। और ‘लोक’ शब्द देवों के ऐश्वर्य आदि का वाचक है।

‘हित’ शब्द से सुख, ऐश्वर्य पूजा सत्कार और चित्त की निवृत्ति फल आदि कहे जाते हैं और ‘अर्थ’ शब्द से प्रयोजन अथवा फल विवक्षित है। इसप्रकार से इहलोक और परलोक के लिये अथवा इन उभय लोकों में सुख ऐश्वर्य आदि रूप ही है प्रयोजन जिनका, वे इहलोक पर हितार्थ कहे जाते हैं। अर्थात् ये मूल गुण इहलोक और परलोक में सुख ऐश्वर्य आदि के निमित्त हैं। इन मूलगुणों का आचरण करते हुए जीव इस लोक में पूजा, सर्वजन से मान्यता गुरुता (बड़प्पन) और सभी जीवों से मैत्री भाव आदि को प्राप्त करते हैं तथा इन मूलगुणों को धारण करते हुए परलोक में देवों के ऐश्वर्य, तीर्थकर पद, चक्रवर्ती, बलदेव, आदि के पद और सभी जनों में मनोज्ञता, प्रियता आदि प्राप्त करते हैं। ऐसे मूलगुण जो कि सभी उत्तर गुणों के आधारपने को प्राप्त आचरण विशेष हैं।

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 175 ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

ऐसा प्रस्तुतिभूदा समणार्ण वा पूर्णो घरतथार्ण।

चरिया परेति भणिदा ताएव परं लहणि सोकर्वं ॥ 254 ॥ (प्रवचनसार)

तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयाकृत्यं कुर्वणा सन्तः कायेन किमपि  
करवहैवैयाकृत्यं कुर्वन्ति । वचनेन धर्मोपदेशं च । शेषमौषधानापानादिकं  
हृष्टथानामधीन तेन कारणेन वैयाकृत्यरूपे धर्मो गृहस्थानां मुख्यः तपोधनानां  
प्रेण । द्वितीयं च कारणं निर्विकारचित्तमत्कारभावना प्रतिपक्षभूतेन विषयकषाय  
मित्तोत्पन्नकार्त् ऐद्रध्यानद्वयेन परिणताणां गृहस्थामात्मात्रितकिशय  
मस्यावकाशो नास्ति वैयाकृत्यादिधर्मेण दुष्यन्ति वंचना भवति तपोधन संसर्गेण  
क्षया व्यवहार मोक्षमार्गोपदेशलभो भवति । ततश्च परंपरया निवारणं लभतः  
चिभिप्रायः ॥ (ज्येचन्नाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति)

**गाथार्थः**— यह प्रशस्तभूत चर्या श्रमणों की होती है और गृहस्थों के तो ख्य होती है। शास्त्रों में ऐसा कहा गया है। उसी से गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्ति है।

तपोधन दूसरे साधुओं की वैयावृत्ति करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो छ भी वैयावृत्य करते हैं वह पापारंभ व हिंसा से रहित होती है तथा वचनों के आधार धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषधि अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के धीन है, इसलिये वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है किन्तु साधुओं का गौण है। सरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी था इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त और रौद्रध्यान परिणमने वाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म से वर्तन करें तो खोटे ध्यान बचते हैं तथा साधुओं की संगति से को गृहस्थों निश्चय तथा व्यवहार मोक्ष ग्रंथ के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परंपरा से निर्वाण को संकरते हैं।

धर्मो दयाविसद्भो पव्वज्जा सब्बंसंग परिचिता ।

देवो ववग्यमोहो उद्यकरो भवजीवाण ॥ २ ॥ (अह पाहं)

दया से विशुद्ध जो धर्म सर्वसंग से रहित प्रवज्या अर्थात् मुनि दीक्षा, मोह रहित देव भव्य जीवों के लिये उदय कर कहा है।

A decorative horizontal border at the bottom of the page, featuring a repeating pattern of stylized floral or geometric motifs in black ink.

वर वय तवेहि सग्गो मा दुकर्खं होऊ णिरइ इयरेहि ।

छायातविष्टायाणं पदिवालंताण गुरु भेद ॥ 25 ॥ अदृपाहङ्

जब तक रलत्रय की पूर्णता नहीं होती है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है तब तक व्रत तपों का पालन करके स्वर्ग प्राप्त करना श्रेष्ठ है। परंतु अव्रती होकर नरक तिर्यचगति संबंधी दुःख प्राप्त करना श्रेष्ठ नहीं है। तब तक व्रत तपों का पालन करके स्वर्ग प्राप्त करना श्रेष्ठ है। जिसप्रकार एक पथिक को पीछे आने वाले अपने साथी की राह देखने के लिए अत्यन्त उष्ण धूप में बैठने की अपेक्षा शीतल वृक्ष की छाया में बैठना श्रेयस्कर है। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो शीतल छाया को छोड़कर अत्यन्त उष्ण धूप में बैठेगा ॥

अव्रतानि परित्यज्य ब्रतेषु परिनिष्ठितः

त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ 84 ॥ (समाधिशतक)

हिंसा पापादि अब्रतों को छोड़कर अहिंसादि व्रत में अत्यन्त निष्ठा वान होना चाहिये। उस व्रत के माध्यम से जब परमात्मा पद की प्राप्ति हो जायेगी तब उन ब्रतों को भी त्यागना चाहिये। जिसप्रकार मंजिल के ऊपर चढ़ने के लिये सीढ़ी की आवश्यकता होती है, बिना सीढ़ी के चढ़ा नहीं जा सकता है, परंतु मंजिल के ऊपर जाने के बाद सीढ़ी स्वयंमेव छूट जाती है अथवा सीढ़ी की शेष सीमा के बाद उस सीढ़ी को त्याग कर मंजिल में प्रवेश करते हैं जैसे हम आगे बढ़ जाते हैं पीछे का रास्ता छूट जाता है उसीप्रकार हम गुणश्रेणी आख़ल्ह होकर बढ़ जाते हैं तो पीछे की गुणश्रेणी छूट जाती है। जैसे मुनि होने पर श्रावक के व्रत छूट जाते हैं, उसीप्रकार परमात्म पद को प्राप्त करते हैं तो ब्रतादि के विकल्प नहीं रहते हैं जैसे दूध से दही, घी बनता है। जब तक घी नहीं बनता है तब तक दूध दहीं का संरक्षण कारण आवश्यक है परंतु घी बनने के बाद दूधादि अवस्था नहीं रहती है। जैसे फल से फूल बनता है। फल होने पर स्वयं फल खिर जाता है।

अशुभाक्षुभायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।

रवेर प्राप्त संध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥ 122 ॥

विद्युत तमसो रागस्तपः श्रुतं निबन्धनम्

संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥ 123 ॥

## ॐ नृष्णु नृष्णु नृष्णु नृष्णु नृष्णु नृष्णु

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनरस्तमः ।

रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥ 124 ॥ (आत्मानुशासन)

**अर्थः—** यह आराधक भव्य जीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ स्वरूप असंयम अवस्था से शुभ रूप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। जिसप्रकार सूर्य जब तक प्रभात काल को प्राप्त नहीं होता है तब तक वह अन्धकार को नष्ट नहीं कर सकता है।

अज्ञान असंयम रूप अंधकार को नष्ट करने वाले प्राणी के जो तप और शास्त्र विषय का जो अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभात कालीन राग (लालिमा) के समान अभ्युदय के लिये होता है।

जिसप्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अंधकार को आगे करके जब (अस्त) राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है। अर्थात् अस्त हो जाता है। उसीप्रकार जो प्राणी वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ज्ञान रूप प्रकाश को त्यागकर अज्ञान, असंयम को स्वीकार करता हुआ संसार-शरीर-भोग सम्बन्धी राग को प्राप्त होता है तब वह पाताल तल अर्थात् आत्मपतन रूप अवस्था को प्राप्त होता हुआ नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

आत्मारूपी सूर्य अनादिकाल से अज्ञान, असंयम, मोहरूपी अंधकार से व्याप्त संसाररूपी रात्रि में संचरण कर रहा है। उसको चिज्योति स्वरूप मुक्ति लोक प्राप्त करना है। उसको पहले अज्ञान असंयम रूपी अंधकार को छोड़कर देव, शास्त्र, गुरु, व्रत, नियम सम्बन्धी राग रूपी दिग्वलय में आना ही होगा। उस समय से पूर्ण अंधकार नहीं तो पूर्ण प्रकाश भी नहीं है परन्तु उस वह आत्मारूपी सूर्योदय के लिये कारण है। जिसप्रकार सूर्योदय के पूर्व पूर्ण प्रकाश नहीं तथा पूर्ण अंधकार नहीं है परन्तु वह लालिमा सूर्योदय रूपी अभ्युदय का सूचक है परन्तु जब जीव देवशास्त्र-गुरु-तप-संयम को छोड़कर संसार शरीर प्रति अनुराग करता है तब वह राग उसके पतन का ही कारण होता है। जिसप्रकार सायंकालीन राग (लालिमा) पतन का सूचक है अर्थात् प्रभात कालीन और सायंकालीन दोनों राग समान होते हुए भी प्रभात कालीन अभ्युदय के सूचक है और सायंकालीन राग पतन के सूचक हैं। उसी प्रकार देव-शास्त्र-गुरु-प्रति और संसार शरीर भोग प्रति राग समान होते हुए भी एक उत्थान का कारण हो तो दूसरा पतन का कारण है।

ॐ नृष्णु नृष्णु नृष्णु 178 ॐ नृष्णु नृष्णु

## ॐ नृष्णु नृष्णु नृष्णु नृष्णु नृष्णु

पिज्जातगो य णाणं वादो ज्ञाणं चरित्त णावा हि ।

भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसणिवायेण ॥ 100 ॥ (मूलाचार)

**अर्थः—** खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान और नौका चारित्र है। इन तीनों के संयोग से ही भव्य जीव भवसागर को तिर जाते हैं।

विषयविरितिः संगत्यागः कषाय विनिग्रहः

शम-यमदमास्तत्वाभ्यासस्तपश्वरणीयमः ॥

नियमित मनोवृत्तिर्भवित्तिर्जिनेषु दयालुता ।

भवति कृतिः संसाराद्वेष्टे निकटे सति ॥ 224 ॥ (आ.शा.)

**अर्थः—** इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन राग-द्वेष की शान्ति, यम-नियम, इन्द्रिय दमन, सात तत्त्वों का विचार, मन की प्रवृत्ति पर नियंत्रण जिन भगवान की भक्ति और प्राणियों पर दयाभाव ये सब भाव उस पुण्यात्मा पुरुष के होते हैं। जिसके संसार समुद्र का किनारा निकट आ चुका है। अर्थात् निकट भव्य सम्यग्दृष्टि जीव उपरोक्त व्रतादि स्वरूप नौका मैं बैठकर संसार रूपी सागर को शीघ्र रूप से पार करता है।

यथा यथा समायाति संवितौ तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा तथा न रोचते विषया सुलभा अपि ॥ 37 ॥

यथा यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ।

तथा तथा समायाति संवितौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ 38 ॥ (इष्टोणदेश)

**अर्थः—** जैसे जैसे विशुद्ध आत्मस्वरूप की संविति बढ़ती जाती है वैसे वैसे सुलभ भी इन्द्रिय विषय रुचता नहीं है। जैसे जैसे सुलभ भी इन्द्रिय विषय रुचकर नहीं लगता है वैसे वैसे आत्मसंविति बढ़ती ही जाती है।

णिय अप्पणाण ज्ञाणज्ञायण सुहामियर सायण्णं णाणं ।

मोतूणाकरवाणसुहं जो भुंजदि सोहु बहिरण्णा ॥ 126 ॥

**अर्थः—** जो ज्ञान, ध्यान, अध्ययन और सुखामृत रसायन पान से विमुख होकर इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भोगता है वह निश्चित बहिरात्मा मूढ़ है।

शुभोपयोग एवं पुण्य-पापः-

**शंका:-** व्यवहार नय अपेक्षा शुभोपयोग के प्राध्यान्यता से जो व्रत संयमादि अरिहंत भक्ति आदि भाव है वे सब पुण्य बन्ध के कारण होने से एवं रागात्मक होने के कारण हैं? पुण्य से संसार बढ़ता है इस लिये व्रत, संयमादि

ॐ नृष्णु नृष्णु नृष्णु 179 ॐ नृष्णु नृष्णु

## ॐ नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं

अरिहंत भक्ति संसार के कारण हैं ?

**सुह परिणामो पुण्यं अमुहो पावंतिभणिदमण्णेऽसु।**

**परिणामो णण्णगदो दुक्खवक्षय कारणं समये ॥ 181 ॥ (प्रवचनसार)**

अपनी आत्मा से भिन्न अन्य द्रव्य में जो शुभ रूप परिणाम है उससे पुण्य होता है और अशुभ भाव से पाप होता है। जो दोनों भावों से रहित होकर स्व स्वरूप में प्रवर्त्तमान है उसका सम्पूर्ण दुःख क्षय हो जाता है।

**अरहंत सिद्ध वैदीय परवयण गण णाण भति संपण्णो ॥**

**बन्धदि पुण्यं बहुसोण हु से कम्मक्खयं कुण्डि ॥ 166 ॥ (पंचास्तिकाय)**

**अर्थः—** अरिहंत सिद्ध-चैत्यालय-प्रवचन-मुनिगण -भेद-विज्ञानादि बहुश्रुत की भक्ति आदि से अत्यधिक पुण्य बन्ध करता है। परन्तु कर्म क्षय नहीं करता है।

इस आर्षवचन से सिद्ध होता है व्यवहार स्वरूप शुभ क्रियायें हेय हैं।

**समाधान :-** ण च ववहारणओ चप्पलओ तत्तो ववहाराणुसारि सिस्त्ताणं प्रउत्ति दंस्त्ताणदो। जो बहुजीवाणुर्गुणकारी ववहारणओ सो चैव समस्तिद्ववो तेमणेणावहारिय गोदम गणयेऽण मंगलं तत्यं कथं।

**अर्थ :-** यदि कहा जाय कि व्यवहार नय असत्य है सो भी ठीक नहीं है- क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहार नय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिये ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थवीर ने चौबीस अनुयोग के द्वारों के आदि में मंगल किया है। वीरसेनाचार्य । ज. ध. पु. पृष्ठ 7-8

ण च अप्पमाणपुरस्त्तरो ववहारो सद्यत्तममल्लियः। ण च एवं।  
ग्रहविवर्जित्य स्व ववहाराणं सद्यत्तुवलंभादो।

**अर्थः—** अप्रमाण पूर्वक होने वाला व्यवहार सत्यता को प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि सभी व्यवहार अप्रमाण पूर्वक होने से असत्य मान लिये जायं सो भी बात नहीं है, क्योंकि जो व्यवहार बाधा रहित होते हैं उन सब में सत्यता पाई जाती है।

पुण्य कम्म बन्धत्थीं देस्त्वयाणं मंगलं कारणं जुतं ण मुणीणं  
कम्मक्खकंक्खुवाणमिदि ण वोत्तुं जुतं; पुण्यबन्ध हेत्तं पडि विसेसाभावादो

## ॐ नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं

## ॐ नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं

मंगलस्त्तेव सरागसंयमस्त्त वि परिच्चाग्यपसंगदो ण च एव तेण संजम परिच्चाग्य राग भावेण पित्त्वुहगमणा भावप्पसंगदो। सराग संयमो गुणस्त्तेष्ट पित्त्वराए कारणं, तेण बन्धादो मोक्खो असंख्येज्ज गुणोत्ति सराग संयमे मुणीणं वट्टणं जुतमिदि णं पद्मवठाणं कायव्वं; अरहंत णमोक्खादो सेयहिय बन्धादो असंख्येज्ज गुण कम्मक्खय कारओ त्ति तत्त्व वि मुणिणं पवुत्तिप्पसंगदो उत्तं च।

**अरहंत णमोक्खारं भावेण यो जो करेदि पयडमदी ।**

**सो सब दुक्ख मोक्खं पावइ अविरेण कालेण ॥**

यदि कहा जाय कि पुण्य कर्म को बान्धने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पुण्यबन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् पुण्य बन्ध के कारण भूत कार्यों को जैसे देशव्रती श्रावक करते हैं वैसे ही मुनि भी करते हैं, मुनि के लिये उनका एकान्त से निषेध नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिसप्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये यहाँ कहा जा रहा है उसीप्रकार उनके सराग संयम के भी परित्याग का प्रसंग होता है क्योंकि देशव्रत के समान सराग संयम भी पुण्य बन्ध का कारण है।

यदि कहा जाय कि मुनियों के सराग संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो हो सो भी बात नहीं है क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्ति गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि सराग संयम गुणत्रेणी निर्जरा का कारण है। क्योंकि उससे बन्ध की अपेक्षा मोक्ख अर्थात् कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणी होती है, ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि अरहंत नमस्कार तल्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है। इसलिये सराग संयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। कहा भी है —

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। (ज. ध. पु. 1 पु. 7-8)

किं फलमेदं धम्मज्ञाणिः? अक्खवएसु वित्तामर सुहफलं गुणस्त्तेदिए  
कम्मणिज्जरा फलं च। खवएसु पुण असंख्यज्ज-गुणस्त्तेडीए कम्मपदेश पित्त्वराण  
फलं सुहकम्माणमुक्खस्त्ताणभागविहाण फलं च। अतः एव धम्माणपैतं धर्म्य

## ॐ नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं नूराजन्मन्त्रं

यान्मिति-सिद्धिम् ।

होति सुहावसर-संवर-णिजरामर सुहाई वित्तलाई ।  
ज्ञाण वरस्स फलाइं सुहाणुंधीणि धम्मस्स ॥ ५६ ॥  
जह वा धण संघात रतणेण परणाहा विलिजंति ।  
ज्ञाणप्प वणीवह्या तह कम्म धणा विलिजंति ॥ ५७ ॥

अर्थः— शंका — इस धर्मध्यान का क्या फल है ?

**समाधान :-** अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुण श्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है; तथा अपक जीवों के तो असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मप्रदेशों की निर्जरा होना और जुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनुप्रेत वह धर्मध्यान है, यह बात सिद्ध होती है।

इस विषय में गाथाएँ –

उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभ आश्रव संवर निर्जरा और देवों के सुख में  
गुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं। अथवा जैसे मेघपटल ताङ्गित होकर क्षण मात्र में  
वेलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन  
जै जाते हैं। (ध.प. 5 प. 77)

ਮोਹ ਸਾਡੁਕਸ਼ਣੇ ਪੁਣ ਧਰਮਜ਼ਿਆਣ ਫਲਾਂ ; ਸਕਦਾਯਤਣੇਣ ਧਰਮਜ਼ਿਆਣਿਣੇ  
ਕੁਝਮ ਸਾਂਪਰਾਈਲਸ ਚਹਿਮ ਸਮਾਏ ਮੋਹਣੀਯਾਈ ਸਾਵਵਲਸਮੁਲਮਾਦੇ ਤਿਣਾਂ ਥਾਵਿ  
ਨਮਾਣਾਂ ਇਮ੍ਰੂਲ ਵਿਣਾਈ ਫਲਮੇਂ ਪਥਤਵਿਦਕ ਅਵਿਚਾਰਜ਼ਿਆਣ ਮੋਹਣੀਯ ਵਿਣਾਈ  
ਪੁਣ ਧਰਮਜ਼ਿਆਣ ਫਲਾਂ ਸ੍ਰਹਮ ਸਾਂਪਰਾਈ ਚਹਿਮ ਸਮਾਏ ਤਲਸ ਵਿਣਾਈਵਲਮਾਦੇ।

**अर्थ :-** मोह का सर्वोपशम करना धर्म ध्यान का फल है; क्योंकि कषाय नहिं धर्मध्यानी के सूक्ष्म एवं सांपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय धर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घाती कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्र वितर्क अविचार ध्यान का फल है। परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका वेनाश देखा जाता है। (ध.प. प्र. 81)

प्राथमिकानां चिन्तामिति करणार्थ विषया दुर्ध्यानं वचनार्थं च परंपरया  
मृक्ति कारणमर्हदादि परं द्रव्यं ध्येयम् पश्चात्चित्ते स्थिरी भूते साक्षात्मृक्ति कारणं

स्वशुद्धामत्त्वतमेव ध्येयं नास्त्येकांतः एवं साध्य साधक भावं ज्ञात्वा ध्येय विषये विवादो न कर्तव्यः इति । (“परमात्म प्रकाश अध्याय 2, ग्राहाटीका 33, ब्रह्मदेव”)

अर्थ :— ध्यान के प्राथमिक साधकों को चित्त के स्थिर करने के लिये और विषय कषाय स्वरूप दुर्ध्यान से बचने के लिये परम्परा मुक्ति के कारण स्वरूप अरिहन्तादि ध्यान करने योग्य हैं। अर्थात् ध्येय हैं। पश्चात् चित्त स्थिर होने पर साक्षात् मुक्ति का कारण जो निज शुद्धात्म तत्त्व है वही ध्यावने योग्य है। पर द्रव्य होने से अरिहन्तादि ध्यावने योग्य नहीं है, यह एकान्त से ठीक नहीं है। अतः सविकल्प अवस्था में अरिहन्तादि उपादेय ही है। इसप्रकार साध्य—साधन जानकर ध्यावने योग्य वस्तु में विवाद नहीं करना पंचपरमेष्ठी का ध्यान साधक है, और आत्म ध्यान साध्य है, यह निःसंदेह जानना।

ैयावृत्यादि स्वकीयावस्था योग्यो धर्मकार्ये नेच्छाति तदात्म्य  
सम्यक्त्वमेव नास्तीति। (टीका प्रवचनस्मार 250)

**अर्थः—** वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म कार्य की अपेक्षा से नहीं चाहता है उसका तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा है।

यद्यपि व्यवहार नयेन गृहस्थावस्थायां विषय कषाय दुर्धार्ण वंचनार्थ धर्मवर्धनार्थं पूजाभिषेक दानादि व्यवहारोऽस्ति तथापि वीतराग निर्विकल्प समाधिस्तानोत्तलाले बहिरुंग व्यापाराभावात् स्वमेव नास्तीति।

**अर्थः—** यद्यपि व्यवहार नय कर गृहस्थ अवस्था में विषय कषाय रूप खोटे ध्यान को हटाने के लिये और धर्म बढ़ाने के लिये पूजा अभिषेक दान आदि का व्यवहार है, तो भी वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन हुए योगीश्वरों को उस समय में बाह्य व्यापार के अभाव होने से स्वयं ही द्रव्य पूजा का प्रसंग नहीं आता, भाव पूजा में ही तन्मय है। (टीका परमात्म प्रकाश । 123-2)

शुद्धात्मानुभूतिः-

सम्यगदृष्टि जनः पुनरभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधिवलेन कतकफल स्थानीयं निश्चय नयाऽप्तित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः। (स. सा. ता. व.- पृ. 13)

अर्थः— जो सम्यग्दृष्टि जन होता है वह तो अभेद रलत्रय लक्षण निर्विकल्प

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

समाधि के बल से कतक स्थानिक निश्चय नय का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।

ननु—वीतराग संवेदन विचार काले वीतराग विशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्धिः किं सरागमपि स्वसंवेदन ज्ञानमस्तीति ?

अत्रोत्तरं विषय सुखानुभवानन्द रूप स्वसंवेदन ज्ञानं सर्वजनं प्रसिद्धं सरागमप्याप्तिः । शुद्धात्मसुखानुभूतिरूप संवेदनज्ञानं वीतरागमिति । इदं व्याख्यानं स्वसंवेदन ज्ञानं व्याख्यानं काले सर्वत्रं ज्ञातव्यमिति ॥

आवार्तः स. स. ता. वृ. 103 -पृ. 89

**शंका:-** वीतराग संवेदन विचार काल में आप ने जो बार-बार वीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे हैं ? क्या कोई सराग स्वसंवेदन ज्ञान भी होता है ?

**समाधान :-** इसके उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि भाई विषय सुखानुभव के आनंदरूप स्वसंवेदन होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है। अर्थात् वह सब लोगों के अनुभव में आया करता है, वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है। इसीप्रकार संवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सभी स्थान पर समझना चाहिये।

विषय कषाय निमित्तोत्पन्ने नार्तरौद्र ध्यानद्वये न परिणतानां गृहस्थानामात्माभित्ति निश्चयधर्मस्त्यावकाशो नाप्तिः । (प्र. स. ता. वृ. 254 पृ. 347)

विषय कषाय के निमित्त से उत्पन्न आर्त-रौद्र ध्यानों में परिणत गृहस्थ नां को आत्माश्रित निश्चय धर्म का अवकाश नहीं है।

असंयत सम्यग्दृष्टि शावक प्रमत्त संयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग-साधक एपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोग वर्तते तदनन्तरमप्यमत्तादि क्षीण ज्यायपर्यंतजघन्य मध्यमोक्षै भेदेन विवक्षितेकदेश शुद्धन्य रूप शुद्धोपयोग वर्तते । (द्र. सं. ठी. 38)

असंयत सम्यग्दृष्टि से प्रमत्त तक तीनों गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग ज साधक ऐसे उत्तरोत्तर विशुद्ध शुभोपयोग वर्तता है। और उसके अनन्तर प्रमत्तादि क्षीण कषाय के गुणस्थानों में जघन्य मध्यम, उत्कृष्ट भेद को लिये गवक्षित एक देश शुद्ध नय रूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

ये गृहस्थापि सन्तो मनाग्रात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन् इति बृंवते ते जिनधर्म विराधकः मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः ।

जो गृहस्थ होते हुए भी मनाक् (थोड़ा) आत्म भावना को प्राप्त करके “हम ध्यानी है” ऐसा कहते हैं, वे जिन धर्म विराधक मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

(मो. पा. अध्याय- 305)

### परम ध्यानों के पर्यायवाची शब्दः-

मा चिह्नह मा जंपह मा चिनाह कि ति जेण होइ पिरो ।

अण्णा अण्णामि रओ इण्मेव परं हवे ज्ञाणं ॥

नित्यनिरंजननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूतिप्रतिबंधक शुभाशुभचेष्टारूपं कायव्यापारं , तथैव शुभाशुभान्तर्बहिर्जल्परूपं वचन व्यापारं तथैव शुभाशुभविकल्प जाल रूपं चित्त व्यापारं च किमपि मा कुरुते है विवेकि जनः ।

येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति । स कः आत्मा । कथम्भूतः स्थिरो भवति ?

सहजशुद्धज्ञानदर्थकस्त्वभावपरमात्मतत्त्वं सम्यक् शुद्धज्ञानानुचरणरूपमेव रत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशालादजनकसुखास्वाद परिणतिसहिते निजात्मनि रतः परिणतिस्तत्त्वायमान एतद्विज्ञानस्तन्मयो भवति । इदमेवात्मसुखस्वरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति ।

तदिमन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागं परमानंसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चय मोक्षमार्गं स्वरूपम् ।

तच्च पर्यायनामान्तरेण... शुद्धात्म स्वरूपं... तदेव परम स्वात्मोपलक्ष्य लक्षणं स्फिद्धं स्वरूपं... तदेव निर्मल स्वरूपं तदेव स्वसंवेदन ज्ञानं .... तदेव शुद्धात्म स्वरूपं.... तदेव परमात्म दर्थनं... तदेव शुद्ध चारित्रं... तदेव शुद्धात्म द्रव्यं... स एव शुद्धात्मानुभूतिं ... स एवात्म प्रतीति, स एव आत्म संवित्ति... स एव परम समाधिः... स एव शुद्धात्म पदार्थम् अध्ययन रूपं एव निश्चय मोक्षोपायः स एव चैकायचिन्ना निरोधः, .... स एव सुद्धोपयोगः स एव परमयोग, ... स एव भूतार्थः... स एव निश्चय पंचाचारः.... स एव सम्यग्सारः... स एव अध्यात्मसारः... तदेव समतादि निश्चय षडावश्यक स्वरूपं, तदेवाभेद रत्नत्रय स्वरूपं, तदेव वीतराग सामाधिक... स एव परमात्म भावना, .... स एव शुद्धात्मभावनोत्पन्न सुखानुभूति रूपं परमकला

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 185 ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

## ॐ नमः शशिरेण्यं

..... तदैव परमामृतं परम धर्मध्यानं ..... तदैव शुक्लं ध्यानं..... तदैव रागादि विकल्पं शून्यं ध्यानं.... तदैव परमवीतरागत्वं, परम भेदं ज्ञातं इत्यादि समस्तं रागादि विकल्पोपाधि रहितं परमलहादैकं सुखं लक्षणं ध्यानरूपस्य निश्चयं मोक्षं मार्गस्थं वाचकान्यान्यपि पर्यायं नामानि विज्ञेयानीं भवद्वि परमात्मं तत्त्वविद्विस्तिं। द्र. स. टी. 56 - पृ. 166-188

हे ज्ञानी जनो! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात् काय के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो, और कुछ भी मत विचारो जिससे कि तुम्हारी आत्मा अपनी आत्मा में तल्लीन स्थिर हो; क्योंकि जो आत्मा में तल्लीन होना है वही परम ध्यान है।

नित्य निरंजन और क्रिया रहित, ऐसा जो निजशुद्ध आत्मा का अनुभव है उसको रोकने वाला जो शुभ-अशुभ चेष्टा रूप कार्य का व्यापार है उसको उसीप्रकार शुभ-अशुभ अन्तरंग तथा बहिरंग रूप वचन के व्यापार को और इसीप्रकार शुभ अशुभ विकल्पों के समूह रूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो जिन मन वचन काय रूप है तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है। वह कौन है? आत्मा! कैसा स्थिर होता है? सहज शुद्ध आत्म ज्ञान और दर्शन स्वभाव को धारण करने वाला जो परमात्म तत्त्व है उसके सम्यक् श्रुद्धान-ज्ञान तथा आचरण लाने रूप जो अभेद रलत्रय है उस स्वरूप जो परमध्यान है, उससे उत्पन्न और सब प्रदेशों को आनंद उत्पन्न करने वाला ऐसा जो सुख उसके आस्वादरूप परिणति सहित निज आत्मा में परिणत तल्लीन, तन्मय और तच्चित शेकर स्थिर होता है। यहीं जो आत्मा के सुखरूप में परिणमन होना है वह निश्चय ने परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान है। उस परम ध्यान में रिथ्त हुए जीवों को जो वीतरागपरमानंद सुख प्रतिभासित है वही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है।

वह दूसरे पर्याय नामों से क्या-क्या कहलाता है अर्थात् उसको किन-केन नामों से लोग कहते हैं सो कथन किया जाता है। वही शुद्ध आत्मा का स्वरूपः। वही स्वात्मोपणविधि स्वरूप है। वह निर्मल स्वरूप का धारक है। वही स्वसंवेदन गान है। वही शुद्धात्म स्वरूप है। वही परमात्म का दर्शन है। वही शुद्ध चारित्र है। यही शुद्धात्म की प्रतीति है, वही स्वसंवित्ति है, वही परम समाधि है, वही शुद्धात्म दार्थ है, वही शुद्धात्म पदार्थ का अध्ययन है, वही निश्चय मोक्ष उपाय है, वही

## ॐ नमः शशिरेण्यं

एकांतं चिन्ता स्वरूप ध्यान है, वही शुद्धोपयोग है, वही परम योग है, वही भूतार्थ उपादेय है, वही निश्चय पंचाचार है, वही आत्म स्वरूप है, वही आत्म सार है, वही समतादि निश्चय नय से षडावश्यक है, वही अभेद रलत्रय है, वही वीतराग परम सामाधिक, वही परमात्म भावना है, वही शुद्धात्म की भावना से उत्पन्न सुखानुभूति स्वरूप परम कला है, वही परमामृत स्वरूप परम ध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही रागादि विकल्प से रहित ध्यान है, वही परम वीतरागत्व है, वही जो परम भेद ज्ञान है ऐसे समस्त रागादि विकल्पों से रहित परम आनंद सुख रूप लक्षण का धारक जो ध्यान है उस स्वरूप जो निश्चय मोक्ष मार्ग है उसको कहने वाले अन्य भी बहुत से जीव पर्यायी नाम परमात्म तत्त्व की अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को जानने वाले जो भव्य जीव हैं उनको जान लेने चाहिये।

आर्द्धैद्र परित्याग लक्षणं निर्विकल्पं समाधिक दिथतानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमबुभवलोकनमुपलब्धिः संवित्रिः प्रतीतिः ख्यातिरबुभूतिस्तदेव निश्चयन्येन निश्चयं चारित्राविज्ञानाभावितं निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं मन्यते तदेव च गुणगुण्यभेद रूप निश्चय न्येन सुद्धात्म स्वरूपं भवतीति।

स. सा. त. वृ. जीवाधिकार पीठिका

आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्विकार कल्प समाधि में स्थिर रहने वाले जो जीव हैं उनको जो शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभव है अवलोकन है, उपलब्धि है, सवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनुभूति है, वही निश्चय नय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् (उसे वीतराग चारित्र को) साथ में लिये हुए रहता है। वही गुण-गुणी में अभेद जो निश्चय नय है उससे शुद्धात्म का स्वरूप कहा जाता है।

वीतराग चारित्रनुकूलं शुद्धात्मनाभूत्यविनाभूतं वीतराग सम्यक्त्वम् ।

(प.प्र.टी. 76)

वीतराग चारित्र के अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूति रूप वीतराग सम्यक्त्व है।

संवेदना ज्ञानेन परं परमात्मानं भावय।

पं दैतरामजी । भाषा टीका ( प.प्र. टी. 13 )

## ॐ नमः शशिरेण्यं

## ॐ नमः शशिरेण्यं

187

## ॐ शश्वत् रुद्राणि देवा नमः

जो वीतराग संवेदन कर परमात्मा जाना जाता था, वही ध्यान करने योग्य है।

**शंका:-** जो स्वसंवेदन अर्थात् अपने कर अपने को अनुभवना इसमें वीतरागता विशेष क्यों कहा है?

**समाधान :-** विषयों के आस्वादन से भी उन वस्तुओं के स्वरूप का जाननापना होता है, परन्तु राग भाव कर दूषित है इसलिये नीज रस का आस्वादन नहीं है, और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है। आकुलता रहित होता है। तथा संवेदन ज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पाँचवें गुणस्थान वाले गृहस्थ को भी होता है, वहाँ पर सराग देखने में आता है, इसलिये राग सहित अवस्था के निषेध के लिये वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है। रागभाव है वह कषाय रूप है। इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबन्धि कषाय सहित है तब तक तो बहिरात्मा है, उसके स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धि के अभाव से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषाय की तीन चौकड़ी बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं है, और श्रावक के पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है, इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ, वीतराग भाव बढ़ गया, इसकारण से भी स्वसंवेदन ज्ञान प्रबल हो गया, परन्तु दो चौकड़ी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ। मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव तो निर्बल हो गया। तथा वीतराग भाव प्रबल हो गया। वहाँ पर स्वसंवेदन ज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ, परन्तु चौथी चौकड़ी बाकी है, इसलिये छहे गुणस्थानवर्ती मुनि सरागसंयमी हैं। उसका वीतराग संयमी के जैसा प्रकाश नहीं है। सातवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी मन्द हो जाती है। वहाँ पर आहार-विहार आदि क्रिया नहीं होती। ध्यान में आखढ़ रहते हैं। सातवें से छहे गुणस्थान में आते तब वहाँ पर आहारादि क्रिया है। इसीप्रकार छहा सातवाँ गुणस्थान करते हहते हैं। वहाँ पर अन्तर्मुहूर्त काल है। आठवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी अत्यन्त मन्द हो जाती है। वहाँ राग भाव की अत्यन्त क्षीणता होती है। वीतराग भाव पुष्ट नहीं जाता है। स्व संवेदन ज्ञान का विशेष प्रकाश होता है। श्रेणी मांडने से शुक्ल ध्यान उत्पन्न होता है।

## ॐ शश्वत् रुद्राणि देवा नमः

श्रेणी के दो भेद हैं। एक क्षपक दूसरा उपशमक क्षपक श्रेणी वाले तो उसी भव में केवल ज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं और उपशम वाले आठवें नवमें-दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर पीछे नीचे गिर जाते हैं। अर्थात् नीचे के गुणस्थानों में आते हैं क्योंकि उसका काल अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु कुछ एक भव भी धारण करते हैं। तथा क्षपकवाले आठवें से नवमें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं, वहाँ कषायों का सर्वथा नाश होता है, एक संज्वलन लोभ रह जाता है इसलिये स्वसंवेदन ज्ञान का बहुत ज्यादा प्रकाश होता है, परन्तु एक संज्वलन लोभ बाकी रहने से वहाँ सराग चारित्र ही कहा जाता है। जब दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ नहीं रहता है। तब मोह की अद्वावीस प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से वीतराग चारित्र की सिद्धि हो जाती है। दसवें से बारहवें में जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते हैं। वहाँ निर्मोही वीतरागी को शुक्ल ध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रकट होता है। यथाख्यात् चारित्र हो जाता है। बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण-दर्शनावरण अन्तराय इन तीनों का भी विनाश कर डाला, मोह का नाश पहले हो ही चुका था। तब चारों धाति कर्मों के नष्ट हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रकट होता है। वहाँ पर ही शुद्ध परमात्मा होता है अर्थात् उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है। वह चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो अन्तरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढ़ती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्मा के है यह सारांश समझना।

**रागादि मल जुदाणं, णियप्परुवं ण दिस्सदे किं पि ।**

**समला दरिसे रुवं ण दिस्से ह जह तह णेयं ॥ (रणसार - 102)**

जिसप्रकार मलिन दर्पण में अपना मुख नहीं दिखता है, उसी प्रकार जिसका चित्त रागादि भावों से मलिन है, उसे अपनी निज आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता।

**राग-द्वेषादि कल्लोलैरेलोलं यन्मनोजलम् ।**

**स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं, तत्त्वं नेतरोजनः ॥ 35 ॥ (स.श.-पृ.81)**

जैसे समुद्र का जल पवन के द्वारा उठने वाले तरंगों से चंचल होता है तब उसमें पदार्थ निर्मलता के साथ नहीं दिखता है परन्तु जब वही जल स्थिर होता है निर्मल जल में अपना मुँह या अन्य कोई पदार्थ साफ-साफ दिखता है। वैसे ही जब यह, मन, क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी भावों से चंचल होता है तब

## ॐ शश्वत् रुद्राणि देवा नमः

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत्

उसमें आत्मा का स्वभाव नहीं झलकता है। परन्तु जब उसमें क्रोधाधि भाव नहीं होते हैं। तब उस निर्मल मन में आत्मा का जो स्वरूप है सो बराबर दिखता है। तात्पर्य यह है कि जिसके मन में राग-द्वेषादि विकारी भाव हैं वे आत्मा के स्वरूप को नहीं पा सकते और मोह सहित सम्यग्दृष्टि योगी अपने स्वरूप के अनुभव में दत्तचित्त होते हैं।

तमात्मानं कोऽसौ जान्मति । योगी कोऽर्थः त्रिगुप्ति निर्विकल्पं समाधिस्थ इति । (प.प्र.टी. 10-पृ. 85)

शंका :- आत्मा को कौन जानता है?

समाधान :- योगी जानता है।

शंका:- वह योगी कैसा है?

समाधान :- त्रिगुप्ति स्वरूप समाधि में लीन होने वाला योगी आत्मा को जानता है।

अथ समभावस्थितानां योगिनां परमानन्द जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति  
तमाह ।

जो समभाव परिष्ठियं जोइहं कोइ फुरेइ ।

परमाणुं जणांतु फुडु सो परमणु हवेइ ॥ (प.प्र. 35)

समभाव अर्थात् जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र इत्यादि इन सब में समभाव को परिणत हुए परम योगीश्वरों के अर्थात् जिनके शत्रु-मित्रादि सब समान हैं, और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय जिसका स्वरूप है, ऐसी वीतराग निर्विकल्प समाधि में तिष्ठे हुए हैं, उन योगीश्वरों के हृदय में वीतराग परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो स्फुरायमान होता है वही प्रकट परमात्मा है ऐसा मानो। अर्थात् उपरोक्त गुणों से युक्त होने वाला योगी ही शुद्धात्मा से स्फुरायमान सुखानुभव कहता है।

वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थो अन्तरात्मा परस्वरूपान् ज्ञानतीति

(प. प्र. 89 टी.)

वीतराग निर्विकल्प समाधि स्थित अन्तरात्मा पर स्वरूप को जानता है। अर्थात् भेदविज्ञान के बल से परद्रव्य से स्वद्रव्य पृथक् जानता है।

वीतराग निर्विकल्प समाधि विषयं च परमात्मानं प्रतिपादयन्ति :-

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत्

त्रेयहि सत्यंहि इंदियहि जो जिय मुण्डुण जाइ ।  
णिमल-झाणहं जो छिसउ जो परमणु अणाई ॥ 23 ॥  
देवैः शार्वेरिदिये यो जीवमनु न याति ।  
निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादि ॥ 23 ॥

अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, इन पाँच तरह के आस्वाद से रहित निर्मल निज शुद्धात्म को जानकर उत्पन्न हुए नित्यानंद सुखामृत का आस्वाद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूप का ध्यान कर स्वरूप की प्राप्ति है। आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जाय, वे ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं, जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यान से ही पाया है, और शास्त्र सुनना है तो ध्यान का उपाय है ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूप में अपना परिणाम लगाओ। दूसरी जगह भी अन्यथा इत्यादि कहा है। उसका यह भावार्थ है कि, वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही हैं। नय प्रमाणरूप है तथा ज्ञान की पंडिताई कुछ और ही है। वह आत्मा निर्विकल्प है। नय प्रमाण निष्केप से रहित है। वह परम तत्त्व तो केवल आनंद रूप है और ये लोग अन्य ही मार्ग में लगे हुए हैं। सो वृथा क्लेश कर रहे हैं। इस तरह अर्थ रूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य है। यह सारांश समझना। (परमात्म प्रकाश)

यत्रनेन्द्रियं सुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।  
तं आत्मनं मन्यस्य जीवतं अव्यात्परमहर ॥ 27 ॥  
जिन्युण इन्द्रिय-सुह-दुहइं जित्यु ण मण गागरु ।  
सो अणु मुणि जीव तुहुं अणु परि अवहारु ॥ 28 ॥

गाथार्थ :- जिस शुद्धात्म स्वभाव में आकुलता रहित अतीन्द्रिय सुख से जो विपरीत जो आकुलता को उत्पन्न करने वाले इन्द्रिय जनित सुख दुःख नहीं है। जिसमें संकल्प विकल्प रूप मन का व्यापार भी नहीं है अर्थात् विकल्प रहित परमात्म से मन के व्यापार अलग है उस पूर्वोक्त लक्षण वालों को हे जीव तू आत्माराम मान अन्य सब विभाओं को छोड़!

टीका :- अनाकुलत्व लक्षण पारमार्थिक सौख्य विपरीतान्या कुलत्वोत्पादकानीन्द्रियसुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्प परमात्मनो विलक्षणः संकल्प

## ॐ शश्वत् तत् तत् तत् तत् तत्

श्रेष्ठसंख्यालक्षणम् इति परिहारब्रयं निर्देषं परमात्म शब्दादि  
 वैष्णवादिपि योजनीयम् ॥

**भावार्थ :-** ज्ञानस्वरूप निज शुद्धात्म को निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर अन्य परमात्म स्वभाव से विपरीत पाँच इन्द्रियों के विषय वगैरह सब विकार रेणामों को दूर से ही त्याग, उनका सर्वथा ही त्याग कर। यहाँ पर किसी शिष्य प्रश्न किया कि निर्विकल्प समाधि में सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है? उक्ता उत्तर कहते हैं— जहाँ पर वीतरागता है, वहाँ निर्विकल्प समाधीपना है, तरहस्य को समझने के लिये अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि हम निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं उनके निषेध के लिये वीतरागता सहित निर्विकल्प समाधि का थन किया गया है। अथवा सफेद शंख की तरह स्वरूप प्रकट करने के लिये कहा गा है अर्थात् जो शंख होगा, वह श्वेत ही होगा उसीप्रकार जो निर्विकल्प समाधि गी, वह वीतरागता रूप ही होगी।

गृहस्थेनाभेददत्तनश्रयस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेद रत्नश्रयात्मक श्रावक धर्म विव्यः यतिना तु रत्नश्रये स्थित्वा व्यावहारिक रत्नश्रयबलेन विशिष्ट तपश्चरण विव्यं लो चैत् दुर्लभं परंपराया प्राप्तं मनुष्यजन्म निष्फलमिति । ( अध्याया 2 मात्रम् प्रकाश-133)

**अर्थः—** गृहस्थों को अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चय रत्नत्रय को उपादेय करके त में रखकर भेद रत्नत्रयात्मक अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयात्मक श्रावक धर्म—दान गदि पालन करने योग्य है। यथा यति को निश्चय रत्नत्रयात्मक अभेद रत्नत्रय में त होकर व्यवहार रत्नत्रय के बल से विशेष तपश्चरण करने योग्य है। यदि रोक्त कर्तव्य श्रावक तथा मुनि पालन नहीं करते हैं तो दर्लभ परंपरा से पाप

ମୁଦ୍ରଣ ନମ୍ବର 192

A decorative horizontal border at the bottom of the page, featuring a repeating pattern of stylized floral or scrollwork motifs in a dark blue-grey color.

मनुष्य जन्म निष्फल जाता है। इसलिये श्रावक व्यवहार मोक्षमार्गी है, मुनी निश्चय मोक्ष मार्गी है।

सर्वधर्म मयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं।

क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामुपि ॥

तस्मादेष तदन्धरजग्वलनं स्नानं जगस्याथुगा ।

मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हितो गैहाश्रमः सर्वथा ॥ 41 ॥.(आत्मानशासन)

गृहस्थाश्रम विद्वज्जनों के चारित्र को भी प्रायः किसी सामायिक आदि शुभकार्यों में पूर्णतया धर्मरूप, किसी विषय भोगादि रूप कार्य में पूर्ण तया पापरूप तथा किसी जिन गृहादि के निर्माणादि रूप कार्य में उभय (पाप-पुण्य) रूप करता है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धे को रस्सी मांजने के समान अथवा हाथी के समान अथवा शराबी या पागल की प्रवत्ति के समान सर्वथा हितकारक नहीं है।

अनाधिविद्या दोषोत्थं चतुः संज्ञाज्वरात्तराः

**शवत्प्रस्तजान विमुखाः सागारा विषयोन्मुखाः ॥ (पं. आशाधर- सा. ध.2)**

अनादि कालीन अविद्यारूपी दोषों से उत्पन्न होने वाली आहार-भय मैथुन परिग्रह रूपी संज्ञा ज्वर से पीड़ित आत्मज्ञान से विमुख एवं विषयों के सुख में आसक्त गृहस्थ होते हैं अर्थात् विषय भोगों में विशेष रत होने के कारण उनका लक्ष मोक्ष सुख में नहीं जाता है।

अनाधिविद्यानुस्थूतं ग्रंथसंज्ञामपासितम्

अपरायनः सागाराः ग्रायो विषय मूर्च्छिता ॥ (स.ध.३)

अनादि कालीन अज्ञान के कारण परम्परा से आनेवाली परिग्रह संज्ञा को छोड़ने के लिये असमर्थ प्रायः विषय भोगों में मूर्च्छित गृहस्थ होते हैं।

भद्रस्य लक्खणं पुण धम्मं चित्तेऽ मोय परिमुक्तो।

चिंतिय धर्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छार्य॥ (भा. स. गा. 365)

भद्रध्यानी गृहस्थ जब तक धार्मिक शुभ क्रियायें करता है तब तक वह भोगोपभोग को त्याग करता है। इसलिये गृहस्थों की धार्मिक क्रियायें हस्तिसनानवत् हैं। अर्थात् धार्मिक क्रियाओं के समय में किंचित् संवर और निर्जरा होती है परन्तु भोगोपभोग के समय आस्त्र एवं बंध हो जाता है।

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

पंचम गुणस्थानवर्तीं गृहस्थों को होने योग्य ध्यान-

अब्राह्मं ज्ञाणं भद्रं आर्थिति तम्हि गुणाणो ।

वहुआरभ परिग्रहं जुत्सस च णतित धम्मं ॥ (गा. 350)

इस पंचम गुणस्थान में आर्त-रौद्र ध्यान एवं भद्र ध्यान होता है श्रावक बहुआरभ और परिग्रह से सहित होने के कारण उनको धर्म ध्यान नहीं होता है।

गिह वावर रथाणं गहीणं इन्दियथं परिकलियं ।

अबुज्ज्ञाणं जायइ रुद्धं वा मोह छण्णाणं ॥

ज्ञाणेहि तेहि पावं उप्पणं तं खवइ भद्र ज्ञाणेण ।

जीवो उवसम जुतो देसजई णाणं संपण्णो ॥ (गा. 363-364)

कृषि वाणिज्यादि व्यापार करने वाले गृहस्थों को नाना प्रकार के इन्द्रिय मोहक पदार्थ विषय में आर्तध्यान उत्पन्न होता है। मोह से युक्त गृहस्थों को रौद्र ध्यान भी होता है। पर दोनों ध्यान से उत्पन्न पाप को उपशमानेवाले एवं ध्यान संपन्न श्रावक भद्रध्यान के माध्यम से नाश करता है।

असुह कमस्स णासो सुहस्स वा हवेइ केणुगाण ।

इयं चितं तस्स हवे अपाय विचयं परं ज्ञाणं ॥ (गा. 368)

अशुभ कर्म का नाश होकर शुभ कर्मों की प्राप्ति किन उपायों से होगी ऐसा विचार करने वाले गृहस्थ अपाय विचय नामक धर्मध्यान का स्वामी होता है।

मुकरं धमज्ज्ञाणं ततं तु पमाय विरहिए णाणे ।

देश विरए पमते उवयारेणव णायल । (गा. 371)

यह चार प्रकार का धर्मध्यान मुख्य रीति से अप्रमत्त गुणस्थान में होता है एवं देश विरत और प्रमत्त विरत इन दोनों गुणस्थानों में उपचार से धर्म ध्यान होता है। ऐसा जानना चाहिये।

सेतु सुज्ज्ञो भावो तस्सुवलंभो य होई गुण णाणे ।

पणदह प्रमाद रहिये सयलर्वि चारित जुत्सस ॥ (भा.सं. - गा. 6)

जो शुद्ध भाव करने योग्य है। उसकी प्राप्ति पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित सकल चारित्र से युक्त अप्रमत्त विरत गुणस्थान में होती है।

इन्दिय विसय विरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जड्या ।

तद्या तं अविअप्प ससरवे अप्पणो तं तु ॥ (तत्सार - गा. 6)

## ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

जब इन्द्रिय विषयों से विरक्त हुआ मन स्थिरता को प्राप्त होता है तब निर्विकल्प तत्त्व अपने स्वस्वरूप में स्थिरता को प्राप्त होता है।

समणे णिक्कल भूये णहु सक्वे वियण संदोहे ।

धकको सुज्ज सहावो अवियणो णिक्कलो णिक्को ॥ (गा. 6)

सर्व विकल्प समूह नाश होने पर एवं मन स्थिर होने पर निर्विकल्प स्थिर, निश्चय, नित्य अर्थात् शाश्वत ऐसा शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है।

ध्याता का लक्षणः-

मा मुज्ज्ह मा रज्जह मा दुस्सह इद्वाणिहु अहेसु ।

स्थिरमिच्छहि जह चितं चिचित ज्ञाणण सिद्धिए ॥ (द्र. सं. गा. 48)

हे भव्य जनों ! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्टानिष्ठ रूप जो इन्द्रियों का विषय है उनमें राग-द्वेष और मोह को मत करो।

समस्त राग-द्वेष-मोह से उत्पन्न हुए विकल्पों के समूह से रहित जो निज परमात्मा के समूह की भावना से उत्पन्न हुआ परमानन्द रूप एक लक्षण सुखामृत उससे उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख आस्वादन में तत्पर हुए जो मग्न हुई परम कला अर्थात् परम संवित्ति है। उसमें स्थिर होकर हे भव्य जीवो! मोह-राग-द्वेष को मत करो।

शंका:- किन में राग-द्वेष-मोह मत करो ?

समाधानः— माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदि रूप जो इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष-मोह मत करो। यदि तुम परमात्म के अनुभव में निश्चल चित्त को जानना चाहते हो तो नाना प्रकार जो ध्यान है उसकी सिद्धि के लिये चित्त से उत्पन्न होने वाला शुभाशुभ विकल्पों का समूह जिसमें विचित ध्यान, उस विचित ध्यान अर्थात् निर्विकल्प ध्यान के लिये राग-द्वेष-मोह मत करो।

इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग रोग को दूर करने तथा भोगोपभोगों के कारणों की इच्छा रखने रूप भेदों से चार प्रकार का आर्त ध्यान है। यह आर्त ध्यान न्यूनाधिक भाव से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को आदि लेकर प्रमत्त विरत गुणस्थान पर्यन्त जो छः गुणस्थान हैं उनमें रहने वाले जीवों को होता है। और यह आर्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों के तिर्यच गति के बन्ध का कारण होता है तथापि जिस सम्यादृष्टि ने पहले तिर्यच गति की आयु को बाँध लिया है उस सम्यादृष्टि जीव को

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

छोड़कर अन्य जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनके तिर्यच गति के बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवों के निज शुद्धात्मा के ग्रहण करने की भावना के बल से तिर्यच गति का कारण रूप जो संक्लेश भाव है उसका अभाव है।

हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द या विषयसंरक्षणानन्द के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का है। यह न्यूनाधिक भाव से मिथ्यात्व गुणस्थान से पंचम गुणस्थान पर्यंत रहने वाले जीवों को उत्पन्न होता है। यह रौद्र ध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के लिये नरक गति का कारण है तो भी जिस सम्यग्दृष्टि ने नरकायु बन्ध की है उसको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टियों को नरकगति का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के नरकगति का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। इसलिये विशिष्ट ध्यान के बल से नरक गति का कारणभूत जो तीव्र संक्लेश नहीं होता है।

**आज्ञाविचय-अपाय विचय-विपाक विचय एवं संस्थान विचय** इन चार भेदों से भेद को प्राप्त हुआ धर्मध्यान न्यूनाधिक वृद्धि के क्रम में अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीवों को उत्पन्न होता है। 'मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्ध कारणमपि परंपराया मुक्ति कारणं चेति धर्मध्यानं' यह धर्मध्यान मुख्यरूप से पुण्यबन्ध का कारण है तो भी परंपरा से मोक्ष का कारण है।

### आज्ञाविचय धर्मध्यान :-

अल्प वृद्धि का धारक विशेष ज्ञान के धारी गुरु के अभाव में शुद्ध जीवादि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर भी जिनदेव की आज्ञानुसार तत्त्वों को ग्रहण करना अर्थात् श्रद्धान रखना वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

**सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुर्भिनैव हन्यते।**

**आज्ञा सिद्धं तु तद् ग्राहं नान्यथा गादिनो जिनाः॥**

श्री जिनदेव का कहा हुआ सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतु अर्थात् तर्क से खंडित नहीं हो सकता। इसलिये जो सूक्ष्म तत्त्व है उसको आज्ञानुसार ग्रहण करना याहिये क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी अर्थात् झूठा उपदेश नहीं देनेवाले हैं। इसलिये भगवान् की वाणी को प्रमाण मानकर जो पदार्थों का निश्चय करता है। इसे आज्ञा विचय नामक धर्मध्यान कहते हैं।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

### अपाय विचय धर्मध्यान -

भेद तथा अभेद रूप रलत्रय की भावना के बल से अपने अथवा अन्य जीवों के कर्मों के नाश का विचार करना अर्थात् वर्तमान में इन प्राप्त हुए दुःखों से छुटकारा कब मिलेगा इसप्रकार जो विचार करता है उसको अपाय विचय नामक धर्मध्यान जानना चाहिये।

### विपाक विचय धर्मध्यान -

शुद्ध निश्चय नय से यह जीव अशुभ कर्मों के उदय से रहित है तो भी अनादि कर्मों के बन्ध के वश से पाप के उदय से नारकादि गतियों में दुःखरूप विपाकरूप फल का अनुभव करता है। और पुण्योदय से देवादि गतियों में सुखरूप विपाक को भोगता है। उसप्रकार कर्मफल-विपाक का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

### संस्थान विचय धर्मध्यान-

जो लोकानुप्रेक्षा का चिंतन करना है वह संस्थान विचय नामक धर्मध्यान है। इसप्रकार चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

### पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्ल ध्यान-

द्रव्य-गुण और पर्याय इनका जो जुदापना है उसको पृथक्त्व कहते हैं। निज शुद्धात्मा का अनुभवरूप भावशुत अथवा निज शुद्धात्मा को कहने वाला जो अन्तरंग वचन है उसे वितर्क कहते हैं। निरीहवृत्ति से अर्थात् बिना इच्छा किये अपने आप ही जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में एक वचन से दूसरे वचन में और मन-वचन-काय इन तीनों योगों में एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन है उसको विचार कहते हैं। त्याग करने वाला निज शुद्धात्मा के ज्ञान को छोड़कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता अर्थात् निज आत्मा का ध्यान करता है। तथापि जितने अंशों से उसके आत्मा में स्थिरता नहीं है उतने अंशों में अनिहित वृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते हैं इसकारण से इस ध्यान को पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान कहते हैं।

यह प्रथम शुक्ल ध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा से अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्तिकरण, उपशमक, सूक्ष्म, सांपराय उपशमक और उपशान्त मोह इन

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश शश

आठवाँ—नवमा—दसवाँ ग्यारहवाँ पर्यंत जो चार गुणस्थान है उनमें होता है। और क्षपक श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक, और सूक्ष्म सांपराय क्षपक नाम के धारक जो आठवें से दसवें तक तीन गुणस्थान हैं इनमें होता है।

### एकत्व वितर्क विचार शुक्लध्यान -

आत्मद्रव्य में अथवा विकार रहित जो आत्मा का सुख है उससे अनुभव पर्याय में अथवा उपाधि रहित निज आत्मा का जो ज्ञात गुण है उसमें उन तीनों में से जिस एक द्रव्य—गुण या पर्याय में ध्यानी प्रवृत्त हो गया उसमें वितर्क नामक जो निजात्मानुभव रूप भावश्रुत का बल है। उससे स्थिर होकर जो विचार, अर्थात् द्रव्य—गुण—पर्याय में परावर्तन करता है वह एकत्व वितर्क विचार, क्षीण कषायवर्ती गुणस्थान में होने वाला शुक्लध्यान है।

### सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान -

यह उपचार से सयोग केवली जिन नामक तेरहवें गुणस्थान में होता है।

### व्युपरतक्रिया निवृत्ति-शुक्लध्यान

विशेषता करके उपरत अर्थात् दूर हुई है क्रिया जिसमें वह व्युपरत क्रिया है। व्युपरत क्रिया हो या अनिवृत्ति अर्थात् निवर्तक न हो वह व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान है। और अध्यात्म भाषा से सहज शुद्ध परम वैतन्य से शोभायमान तथा निर्भर आनंद के समूह को धारण करने वाला जो भगवान् निज आत्मा है उसमें उपादेय बुद्धि करके अर्थात् निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी बुद्धि को करके फिर जो “मैं अनंत ज्ञान का धारक हूँ,” मैं अनंत सुख का धारक हूँ इत्यादि भावना को करता है इस रूप अन्तरंग धर्मध्यान कहा जाता है और पंचपरमेष्ठियों की भक्ति को आदि से उसके अनुकूल जो शुभ अनुष्ठान का करना है, वह बहिरंग धर्मध्यान है। उसीप्रकार निज शुद्ध आत्मा में विकल्प रहित ध्यान रूप लक्षण का धारक शुक्लध्यान है।

### पंचम काल में क्या भावश्रुत केवली हो सकते हैं?

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुज्जं।  
तं सुदकेवलिंमिसिणो भण्ति लोगण्दीवयरा ॥ (स.सा.-गा. 10)

## ॐ शश शश शश शश शश शश शश

**तात्पर्यवृत्ति :-** यः कर्ता भावश्रुतेन स्वसंवेदज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन अभिसमंताज्ञानात्यकृभवति कं आत्मानं इमं प्रत्यक्षीभूतं। पुनः कि विधिष्टं ? असहायं रागादिरहितं पुरुषं निश्चयश्रुतकेवलिनं परम ऋषयः कथयन्ति लोकप्रदीपकराः लोक प्रकाशकः इति । अन्या गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम् । अथ यः कर्ता द्वादशांगद्रव्यश्रुतं सर्वं परिपूर्णजानति व्यवहार ब्रूतकेवलिनं तं पुरुषं आहु ब्रूवन्ति के ते ? जिनाः सर्वज्ञाः । करमादिति चेत् ? यस्मात् कारणात् द्रव्याश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुत ज्ञानं आत्मा भवति कथंभूतं सर्वआत्म संवित्तिविषयं परमरिच्छित्तिविषयं वा तस्मात् कारणात् द्रव्यश्रुतकेवलि स भवतीति ।

**अयमत्रार्थ :-** यो भावश्रुतलूपेण स्वसंवेदन ज्ञानेन थुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवलि भवति । यस्तु स्वथुद्धात्मानं न संवेदति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवलिभवतीति ।

ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनादिमन् कालेपि श्रुतकेवलि भवति ? तन्न यादृथं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृथमिदानीं नास्ति : किन्तु धर्मध्यान योग्यमस्तित्यर्थः । (स.सा.त.प. 10)

जो द्वादशांग के द्वारा अपनी शुद्धात्मा को अपने अनुभव में लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान् निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं। और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो संपूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्यश्रुत केवली कहते हैं।

जो जीव कर्ता (करणता) को प्राप्त हुए निर्विकल्प समाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता है, उस प्रत्यक्षीभूत अपनी आपकी आत्मा को सहाय रहित अर्थात् निरालम्ब रागादि रहित अनुभव में लाता है उस पुरुष को निश्चय श्रुतकेवली कहते हैं। कौन कहते हैं ? लोकालोक के प्रकाशक परमऋषि कहते हैं। इसप्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया है।

किन्तु जो पुरुष द्वादशांग द्रव्य श्रुत ज्ञान को परिपूर्ण रूप जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्य श्रुत केवली कहते हैं। क्योंकि द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भावश्रुत है वह आत्मा ही है जो कि आत्मा की संविति को विषय करने वाला और पर की परिच्छिति को विषय कहने वाला होता है। इसलिये वह द्रव्य

## ॐ शूद्ध शूद्ध शूद्ध शूद्ध शूद्ध शूद्ध शूद्ध

श्रुत केवली होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भावश्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्धात्मा को जानता है। वह निश्चय श्रुत केवली होता है। किन्तु जो अपनी शुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर रहा है न उसकी भावना कर रहा है केवल बहिर्विषयक द्रव्य श्रुत के विषयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली होता है।

इस पर शिष्य कहता है कि –

**शंका:-** फिर तो स्वसंवेदनज्ञान के बल से इसकाल में भी श्रुत केवली हो सकता है ऐसा समझना चाहिये क्या ?

**समाधान:-** इसका समाधान यह है कि, इस काल में श्रुतकेवली नहीं हो सकता है। क्योंकि जैसा शुक्लध्यानात्मक स्वसंवेदन ज्ञान पूर्व पुरुषों को होता था वैसा इस समय नहीं होता है। किन्तु इस काल में यथायोग्य धर्मध्यान ही हो सकता है।

**जोइय अपो जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ।**

**अप्पहं केरइ भावडइ बिर्वित जेण वसेइ॥ ( प. प्र. अध्याय. 2 ग-९)**

जोइक अप्पे जाणिएण है योगिन् आत्माना ज्ञानेन। कि भवति। जगु जाणियउ हवेइ जगुम् त्रिभुवनं ज्ञातं भवति। कस्मात्। अप्पहं केरइ भावडइ बिर्वित जेण वसेइ आत्मनः संबिन्धनि भावे केवलज्ञानं पर्याये बिन्दिवं प्रतिबिन्दिवं येन कारणेन वस्ति तिष्ठतीति।

**अयमर्थः-** वीतरागनिर्विकल्पसंवेदनज्ञानेनपरमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्त द्वादशांग स्वरूप ज्ञातं भवति। कस्मात्। यस्माद्वाघवपाण्डवाद्यो महापुरुषा जिन दीक्षा गृहीत्वा द्वादशांग पठित्वा द्वादशांगध्ययन फलभूते निश्चय रञ्जन्त्रयात्मके परमात्म ध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञाते सति सर्वज्ञातं भवतीति। अथवा निर्विकल्प समाधि समूत्पन्नं परमानन्द सुखरसात्मवादे जातो सति पुरुषो जानाति कि जानाति? वैचित्रं मम स्वरूपमन्यद्देहाग्रादिकपरिमिति तेन कारणनामनि ज्ञाते सर्वज्ञातं भवति। अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन कारणभूतेन सर्वलोकालोक जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति। अथवा वीतराग निर्विकल्प त्रिगुप्तिसमाधि बलेन केवलज्ञानेत्पत्ति बीजभूतेन केवलज्ञाने ज्ञाते सति दर्पणे

## ॐ शूद्ध शूद्ध शूद्ध शूद्ध शूद्ध शूद्ध

बिन्दिवत् सर्वलोकालोक स्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वज्ञानं भवतीति। अभेद व्याख्यान चतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्यभ्यन्तर परिग्रह त्यागं कृत्वा सर्वं तात्पर्येण निजं शुद्धात्म भावना कर्तव्येति: तात्पर्यम्।

हे योगी ! एक अपनी आत्मा को जानने से यह तीन लोक जाना जाता है क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिंबित हुआ है, बस रहा है।

**भावार्थः-** वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्म तत्त्व को जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है। क्योंकि जैसे रामचन्द्र, पाँडव, भरत सगर आदि महापुरुष भी जिनदीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढ़कर द्वादशांक पढ़ने का फल निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जो शुद्ध परमात्मा उसके ध्यान में लीन हुए बैठे हैं। इसलिये वीतराग स्वसंवेदन जानकर अपनी आत्मा का जानना ही सार है। आत्मा के जानने से सबका जानपना सफल होता है। इसकारण जिन्होंने अपनी आत्मा जानी उन्होंने सबको जाना। अथवा निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुखरस उसके आस्वाद होने पर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है, कि मेरा स्वरूप अलग है। और देह रागादिक मुझसे दूसरे हैं मेरे नहीं हैं। इसलिये आत्मा के जानने से सब भेद जाने जाते हैं, जिसने अपने को जान लिया उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जाने। अथवा आत्मश्रुतज्ञान रूप सब लोकालोक को जानता है। इसलिये आत्मा के जानने से सब जाना गया। अथवा वीतराग-निर्विकल्प परमसमाधि के बल से केवलज्ञान को उत्पन्न करके जैसे दर्पण में घटपटादि पदार्थ झलकते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में सब लोकालोक भासते हैं। इससे यह बात निश्चय हुई कि आत्मा के जानने से सब जाना जाता है।

यहाँ पर सारांश यह है कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जानकर बाह्य अभ्यन्तर सर्वपरिग्रह छोड़कर सर्वतरह से अपनी शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये।

अथ केवलज्ञानं श्रुतज्ञानिन्मोरवि शेष दर्थनेन विशेषाकांक्षा क्षोभं क्षपयति:

अब केवलज्ञानी तथा श्रुतज्ञान के अवशेष दिखलाते हुए विशेष आकांक्षा के क्षोभ को नष्ट करते हैं।

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

जो हि सुदेण विजाणादि अण्णाणं जाणगं सहावेण।

तं सुयकेवलिमिसिणो भणनि लोयप्पदीवयरा। (प्रवचनसार - 33)

जो वास्तव में श्रुतज्ञान से (निर्विकल्प रूप भावश्रुत परिणाम से) स्वभाव से ज्ञायक स्वभावी आत्मद्रव्य को जानता है। लोक के प्रकाशक ऋषिगण उसको श्रुतकेवली कहते हैं।

यः कर्ता स्फुटं निर्विकारं स्वस्वित्तिरूपं भावं श्रुतं परिणामेन विजानाति विशेषणं जानाति। विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनेत्थपरमानन्दैकलक्षणं सुखरसास्पदेननुभवति। कम्। निजात्मं द्रव्यं कथंभूतं। ज्ञायकं केवलज्ञानं स्वरूपं। केन कृत्वा। समस्तं विभावरहितस्वस्वभावेन। तं महायोगीन्द्रं श्रुतकेवलिनं कथयन्ति। के कर्तारः। ऋषयः। कि विधिष्ठाः। लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति। अतो विस्तरः- युगप्तं परिणत समस्तं चैतन्यस्थालिनः केवलज्ञानेन अनाद्यन्ता निःकारणान्यद्रव्यासाधारणं स्वसेवयमानं परमचैतन्यं सामान्यं लक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलं यत्मनं आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवली भवति, तथायं गणधरदेवादि निश्चय रत्नग्रयाराधकजनोपि पूर्वोक्ता लक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनानिश्चयाश्रुतकेवली भवतीति। किंच यथा कोपि देवदत्त अदित्योदयेन दिवसे पश्यति रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसे स्थानीय मोक्ष पर्याये भगवानात्मानं पश्यति। संसारी विवेकज्ञः पुनर्निश्चास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहित-परमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति। अथमत्राभिप्रायः आत्मापरोक्षः कथं ध्यानं क्रियते इति सन्देहं कृत्वा परमात्मभावना न त्यज्यति।

(प्र.सा.ता.वृ. गा. 33 पृ. 78)

जो कोईपुरुष निश्चय से निर्विकार स्वसंवेदन रूप भावश्रुत रूप परिणाम के द्वारा समस्त विभाओं से रहित स्वभाव से ही ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप निज आत्मा को विशेष करके जानता है। अर्थात् विषयों के सुख से विलक्षण अपने निजशुद्धात्मा की भावना के बल से पैदा होने वाले परमानन्दमयी एक लक्षण को रखने वाले सुख रस के आस्वाद को अनुभव करता है। लोक के प्रकाशक ऋषि उस महायोगीन्द्र को श्रुत केवली कहते हैं।

इसका विस्तार यह है कि एक समय से परिणमन करने वाले सर्व चैतन्यशाली

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

केवलज्ञान के द्वारा आदि अन्त से रहित अन्य किसी कारण के बिना दूसरे द्रव्यों में न पाइये ऐसा असाधारण अपने आपसे अपने में अनुभव आने योग्य परम चैतन्य रूप सामान्य लक्षण को रखने वाले तथा परद्रव्य से रहितपने के द्वारा केवल ऐसी आत्मा का आत्मा से स्वानुभव करने से जैसे भगवान् केवली होते हैं वैसे ही यहाँ गणधर आदि निश्चय रलत्रय के आराधक पुरुष भी पूर्व में कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभव करने से श्रुतकेवली होते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई एक देवदत्त नाम का पुरुष सूर्य का उदय होने से दिवस में देखता है और रात्रि में भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है, वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिवस के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान् केवली आत्मा देखती हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रि के समान संसार अवस्था में दीपक के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपनी आत्मा को देखते हैं। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है। उसका ध्यान कैसे किया जाय ऐसा सन्देह करके परमात्मा की भावना को नहीं छोड़ देना चाहिये।

सयलागम पार गया सुदकेवलिणाम सुप्पसिङ्गा जे।

एदाण बुद्धि रिद्धि चोद्दसपुवित णामेण॥ (ति.प.अ. ५ गा. 1001)

जो महर्षि संपूर्ण आगम के पारंगत हैं और श्रुत केवली नाम से प्रसिद्ध हैं उनके चौदह पूर्व नामक ऋद्धि बुद्धि होती है।

णमो चोद्दस पुव्वीग्रामं॥ 13॥ ध. 4-1-13

“सयलसुदण्णाण धारिणो चोद्दसपुविगो” अर्थात् चौदह पूर्व के धारियों को नमस्कार हो। समस्त श्रुत ज्ञान के धारक चौदह पूर्वी कहे जाते हैं।

जो चौदह पूर्व के धारक महामुनि होते हैं, वे मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होते हैं और उस भव में असंयम को भी प्राप्त नहीं करते हैं।

श्रुतकेवली भावलिंगी चौदह पूर्व धारी महामुनि ही होते हैं। संयम रहित चौदह पूर्वधारी भी श्रुतकेवली नहीं होते हैं। जैसे कोई देव चौदह पूर्व के धारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हुए भी वे श्रुत केवली नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उनके संयम का अभाव है। जो महामुनि भावश्रुत के माध्यम से स्वसंवेदन ज्ञानरूप निर्विकल्प परमसमाधि के बल से आत्मा को सम्पूर्ण ओर से जानता है, अनुभव

ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

करता है, भले वह सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के ज्ञान का ज्ञाता नहीं होते हुए भी वह भावश्रुत का ज्ञाता होता है। परन्तु सांप्रतिक पंचमकाल में शुक्ल ध्यान रूपी निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है इसलिये वर्तमान में कोई भावश्रुत केवली भी नहीं है। उसीप्रकार द्रव्यश्रुत केवली भी नहीं है। पंचमकाल में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुये हैं। उसके बाद श्रुतकेवली रूप सूर्य का अस्त हो गया। शुभोपयोग रूपी केवली नहीं है। क्योंकि शुभोपयोगी निर्विकल्प परम समाधि में लीन होकर आत्मा का पूर्णरूप अनुभव नहीं कर सकता है।

### शुभ क्रियाओं से कर्म निर्जरा -

आपासयाइ कर्मं, विजावत्तं च दाण पूजाइं ।

जं कुणइ सम्मदिष्टी, तं सबं णिज्जरा णिमितं ॥

देव वन्दनादि सामायिक कर्म मुनियों की सेवादि, दान कर्मादि जो शुभ क्रियायें सम्यग्वृष्टि जीव करते हैं उससे कर्म की निर्जरा होती है।

समतुप्ती विय सावय विरये अणंत कर्मसे ।

दंसणं मोहकरवणे कसाय उवसामए य उवसंते ॥

रवये य रवीण मोहे जिणे य णियमा हवे अरणेज्जा ।

तविरियो कालो संखेज्ज गुणाए सेहीए ॥

तीनों करणों के अन्तिम समय में वर्तमान विशुद्ध मिथ्यावृष्टि जीव को जो गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य है उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्व की निर्जरा होने पर असंयत सम्यग्वृष्टि में प्रतिसमय होने वाली गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे देश विरति के गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे सकल संयमी के गुण त्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे अनन्तानुबन्धी के संयोजना करने वाले के गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे दर्शन मोह की क्षपण करने वाले जीव को गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती उपशम जीव की गुण त्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे उपशांत कषाय जीव की गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानवर्ती क्षपक जीव की गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे क्षीण मोह जीव की गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे स्वस्थान केवली

जिनकी गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है। उससे समुद्धात केवली जिनकी गुणत्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है।

परन्तु गुणत्रेणी आयाम का काल इसमें विपरीत है अर्थात् समुद्धात केवली से लेकर विशुद्ध मिथ्यावृष्टि तक काल क्रम में असंख्यात गुण है। (बो. जी. धवल—ज.ध.प. 1—पृ. 97)

**भावार्थ:-**— इस उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि मिथ्यावृष्टि से सम्यग्वृष्टि असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है, और अविरत सम्यग्वृष्टि से देश संयत गुणस्थानवर्ती जीव असंख्यात गुणित कर्म निर्जरा करता है। और इनसे एक सकल संयमी असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है। मुख्यरूप से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से लेकर सातवाँ गुणस्थान पर्यंत शुभध्यान है। अतः यदि शुभध्यान से कर्म निर्जरा नहीं होती है ऐसा मानने पर आगम विरोध होगा। आगम त्रिकाल अबाधित सत्य है। कभी अन्यथा नहीं हो सकता है।

अतः सिद्ध हुआ कि उत्तरोत्तर शुभध्यान (शुभोपयोग) से अधिकाधिक कर्म निर्जरा होती है।

“परे मोक्ष हेतु” (त.सू. अध्याय-७)

आगे के दो शुभ और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

उपरोक्त गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। यदि पुण्य प्रकृति सर्वथा संसार का कारण होता है तो उत्तरोत्तर गुणस्थानवर्ती जीव अधिकाधिक दीर्घसंसारी होते। अतः पुण्य संसार का कारण कहना आगम विरोध है। जिन भगवान के मुख से निकली हुई द्वादशांग वाणी में मुनियों को मुख्य करके आचारांग का वर्णन है। और यथायोग्य धर्म को धारण करने वाले गृहस्थों के लिये उपासकाध्ययन अंग का वर्णन है, जो कि शुभ ध्यान स्वरूप है, पुण्य बन्ध का कारण है! यदि शुभ क्रियाओं से सिर्फ पुण्य बन्ध ही होता है संसार का ही कारण है तो क्या जिन भगवान के मुख से निकली हुयी वाणी संसार का कारण है? क्या जिन भगवान् अनन्त दुःख स्वरूप संसार में परिभ्रमण कराना चाहते हैं? अतः पुण्य संसार का कारण कहना हेय कहना यह जिन भगवान की वाणी या श्रुत का अवर्णवाद है।

पुण्य प्रकृति शुभध्यान से अथवा आदि के तीन शुक्लध्यान से भी नष्ट

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

नहीं होता है। केवल अयोग गुणस्थानवर्ती के चरम समय में नष्ट होता है उसके पहले नहीं।

सातावेदनीय उक्तस्माणुभागं बन्धिय खीणकसाय सजोगि-अजोगि गुणत्रृप्तिं उवगयरय वेयणीय उक्तस्माणुभागो एदेषु गुणत्रृप्तेषु लब्धेदि।

साता वेदनीय के उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधकर क्षीण कषाय सयोगी और अयोगी गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव को इन गुणस्थानों में वेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग पाया जाता है। (ज.ध.पु. 4 पृ. 17)

**सुभाणं कम्माणमणुभागं घाटी णथिति।**

शुभ कर्मों का अनुभाग घात नहीं होता है। (ध. पु. 1 पृ. 272)

**शुभोपयोग का स्वरूपः-**

दद्विधिकाय छप्पण तत्त्व पयायेसु सत्त णवमेसु।

बन्धण मोक्तवे तवकारणस्तवे बासणुरेकवत्वे॥

रण्णत्यय सर्वे अज्ञाकम्मो दयादि सद्गम्मे।

इत्वेव माइगे जो वद्विदि सो होदि सुहमावो॥

छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ, संसार और उसके कारण रूप, आस्त्रव बंध और मोक्ष के कारण स्वरूप संवर-निर्जरा बारह अनुप्रेक्षा सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान—सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म, आर्थ कर्म (शुभ कर्म) श्रावक और मुनि के यथायोग्य षड्गावश्यक दान पूजादि सद्धर्म इत्यादि रूप जो उपयोग है वह शुभ भाव है। (रयणसार (64-65)

**साता पुण्यास्त्रव-वेदनीय आस्त्रव के कारण :-**

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।

वैयाकृत्यं विनीतिश्च जिनं पूजार्जवं तथा॥

सरागं संयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।

भूतं ग्रत्यनुकंपा च सद्वेद्यास्त्रवं हेतवः॥ (गा.-25-26)

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच इन्द्रिय, दमन, क्षमा, वैयाकृति, विनयता, जिनपूजा, सरलता तथा सराग संयम, संयमासंयम, जीवदया आदि सातावेदनीय के कारण हैं। यदि शुभोपयोग को धर्म नहीं मानेंगे तो उपरोक्त समस्त गुणों का अभाव हो जायेगा। जिससे व्यवहार तीर्थ का विच्छेद होगा। व्यवहार तीर्थ का विच्छेद होने से धर्म का लोप होगा। धर्म के लोप से इहलोक सुखस्वर्गादि अभ्युदय

**ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने**

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

सुख लोप होगा।

इतना ही नहीं नीति नियम, सदाचार का लोप होने से देश, राष्ट्रसमाज, परिवार में अन्याय, दुराचार चलेगा जिससे बड़ा विफ्लव होगा और सर्वत्र अशान्ति ही फैलेगी। इसलिये शान्ति स्थापना के लिये सम्यक् शुभोपयोग अत्यन्त आवश्यक है। जो कि मात्र स्वर्गादि अभ्युदय सुख में ही कारण नहीं बल्कि परम्परा से मोक्ष का भी कारण है।

अनेक आचार्यों ने भी जिनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की हैं ऐसे पूज्यपादाचार्य अपने आत्मा को पवित्र करने के लिये जिन भगवान की स्तुति करते हुए अन्त में यहाँ तक कहते हैं कि —

तव पादौ मम हृदयं मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।

तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावनिर्वाणं संप्राप्तिः॥ ७ ॥

(समाधि भक्ति-पूज्यपादाचार्य)

आपके पुनीत चरण मेरे हृदय में एवं मेरे हृदय आपके पवित्र चरण में है! जगज्जेष्ठ परमाराध्य त्रिलोकाधिपति जिनेन्द्र! तब तक रहे, जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो। अर्थात् मैं सदा आपके चरणों का उपासक बन के रहूँ।

**पुण्य फल :-**

काणि पुण्ण फलाणि?

तित्थयर गणहर रिसि चक्कवटि बलदेव वासुदेव सुर-विज्ञाहरिद्विओ।

(ध. 1-2-पृ. 105)

**शंका :-** पुण्य के फल कौन से हैं?

**समाधानः—** तीर्थकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, देव, बलदेव, वासुदेव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।

**पाप का स्वरूप -**

पापि रक्षति आत्मान् शुभादिति पापम्। असद्वेद्यादि।

जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह पाप है।

जैसे— असातावेदनीय । (स.सि. अध्याय 6—सू. 3 पृ. 220)

पापं नाम अनभिमतस्य पापकं ( भ. आ. वि. 34-134)

अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्म को पाप कहते हैं।

**ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने**

# ॐ नमः शशिहरेष्वरामृतं

## पापास्त्रव के कारण-

चरिय पमाद बहुला कालसं लोलदा य विसयेसु।

परपरितावं पगदो पावस्स य आसवं कुणदि॥ (पंचास्तिकाय - गा. 139)

प्रमाद बहुलता से युक्त आचरण लोलुपता, पर को परिताप करना तथा पर के अपवाद बोलना यह सब पाप के आस्त्रव के कारण हैं।

## पापबन्ध का कारण :-

अथ देव शास्त्र मुनीनां योऽसौ निन्दा करोति तस्य पाप बन्धो भवति।

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्वेसु करेई।

णियमे पातु हवेइ तसु जे संसारु भमेइ॥ 62॥ (परमात्म प्रकाश द्वितीय अधिकार)

देवशास्त्र गुरु की जो निन्दा करता है, उससे महान् पाप का बन्ध होता है, वह पापी पाप के प्रभाव से नरक निगोदादि खोटी गतियों में अनन्तकाल तक भटकता है।

वीतराग देव, जिनसूत्र और निर्ग्रथ मुनियों से जो जीव द्वेष करता है उसके निश्चय से पाप बन्ध होता है, उस पाप के कारण से वह जीव संसार में परिभ्रमण करता है। परंपरा से जो मोक्ष के कारण और साक्षात् पुण्य के बन्ध के कारण, जो देव-शास्त्र गुरु है इनकी जो निन्दा करता है, उसके नियम से पाप बन्ध होता है, पाप से दुर्गतियों में भटकता है।

देवपं इत्यादि। देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्वेसु करेई देवशास्त्र मुनीनां साक्षात्पुण्य बन्ध हेतु भूतानां परंपरया मुक्ति कारण भूतानं च योऽसौ विद्वेषं करोति तस्य कि भवति। णियमे पातु हवेइ तसु नियमेन पापं भवति तस्य। तेन पाप बन्धेन कि भवति। जे संसारु भमेइ येन पापेन संसारं भमतीति। तद्यथा। निज परमात्म पदार्थोपलभूत्यि रूपं निश्चय सम्यकत्वंकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धान् रूप व्यवहार सम्यकत्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रयतीनां योऽसौ निन्दा करोति स मिथ्यादृष्टि भवति। मिथ्यात्वेन पापं बद्धति, पापेन चतुर्गति संसारं भमतीति भावार्थः ॥ 62॥

निज परमात्म द्रव्य की प्राप्ति की रुचि वही निश्चय सम्यक्त्व उसका कारण तत्त्वार्थ श्रद्धान् रूप व्यवहार सम्यक्त्व उसके मूल अरहं देव, निर्ग्रथ गुरु और

# ॐ नमः शशिहरेष्वरामृतं

दयामयी धर्म इन तीनों की जो निंदा करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है।

वह मिथ्यात्व से महान् पाप बाँधता है, उस पाप से चर्तुर्गति संसार में भ्रमता है।

## सम्यग्दर्शन घातक व्यक्ति -

जिनाभिषेके जिनवै प्रतिष्ठा जिनालये जैन सुपात्रतायाम्।

सावधलेशो वदते स पाणो स निन्दको दर्शनघातकश्च॥ (सार- संग्रह)

जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक, चैत्य-चैत्यालय-निर्वाण-प्रतिष्ठा एवं सुपात्र दान में पाप होता है, ऐसा जो प्रतिपादन करता है वह जिन धर्म का निंदक है, सम्यक्दर्शन का घातक है। उपरोक्त क्रियाओं में कुछ आरम्भादि कारणों से अत्यन्त कम पापबन्ध होता है – परन्तु उससे अत्यन्त आत्मविशुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन की निर्मलता बढ़ती है, सतिशय पुण्य बन्ध होता है, जो कि परंपरा से मोक्ष का कारण है। इस महाफल के आगे जघन्य पाप निष्फल हो जाता है।

## अशुभ भाव -

हिसंइसु कोहाइसु मिच्छा णाणेसु पक्खवाएसु।

मिच्छारिएसु मएसु दुराहिवेससु असुहलेसेसु॥

विकहाइसु सहहज्जाणेसु असुहगेसु दंडसु।

सल्लेसु गारवेसु य जो वहुइ असुह भावो सो ॥ (रणसार-गा.62-63)

हिंसादिक में, क्रोधादिमें, मिथ्याज्ञान में, पक्षपातमें, मत्सर भाव में, मद में, मिथ्याभिप्रायमतमें, अशुभ लेश्या में, विकथामें, आर्त-रौद्र ध्यानमें, अशुभकारण दण्ड में, मिथ्यामाया-निदानशल्य में, चार प्रकार के मद में जो प्रवर्तमान होता है, उसे अशुभ भाव कहते हैं। इन्हीं अशुभ भावों से पाप का आस्त्रव होता है।

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिवेदनं।

परात्म द्वितीयस्थानि तथा च परपैशुन ॥

ऐदनं भेदनं तैव ताडनं दमनं तथा।

तर्जनं भर्त्सनं तैवं सधो विशसनं तथा॥

पापकर्मापजीवितं वक्रशीलत्वमेव च।

शस्वप्रदानं विश्रम्भं धातनं विष मिश्रणं।

भृंखला वागुरा पाश रज्जुजालादि सर्जनं।

धर्म विधसनं धर्मप्रत्येहकरणं तथा॥

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

**तपस्वी गहणं शीलं ब्रतप्रच्यावनं तथा ।**

**इत्प्रवेदनीयस्य भवन्या स्वर हेतवः । तत्प्रवेद-अध्याय ५ श्लोक २०-२४**

**अर्थः— दुःख—अनिष्ट संयोग होने पर दुःख करना।**

**शोक — इष्ट वियोग होने पर दुःख करना।**

**वध— प्राणों का वध करना।**

**ताप— लोक निन्दादि के होने पर संताप करना।**

**क्रंदन — अश्रुपात करते हुए रुदन करना।**

**परिवेदन — दूसरों को दया उत्पन्न हों ऐसा जोर-जोर से रोना। जिससे देखकर दूसरा भी रोने लगे।**

**परपैशुन — दुर्भावना से दूसरों पर दोषारोपण करना।**

**छेदन — शरीर के अवयवों का छेदन करना। जैसे— बैलों का नाक छेदनादि—**

**ताङ्ग — लाठी से मारना।**

**दमन— दूसरों को भय दिखाना।**

**तर्जन— दूसरों को दुःख देना।**

**भर्त्सना — कठोर अभद्र वचनों से दूसरों की निन्दा करना।**

**सद्यो विशंसन — छल कपटपूर्वक दूसरों को धोखा देना।**

हिंसादि पापकर्म से आजीविका चलाना, कुटिल भाव-मायाचार में प्रवृत्ति, हिंसाजनक शस्त्र दूसरों को काम में देना, विश्वास घात करना, स्वतः दूसरों को विषादि सेवन करके कराके मरण को प्राप्त होना, या दूसरों को प्राप्त कराना। पशु-पक्षियों को बन्धन में डालना, धर्मनीति विरुद्ध कार्य करना, धर्मात्माओं के शुभ कर्म में विघ्न डालना, तपस्वी-साधुओं की निन्दा करना, झूठे अपवाद लगाना। ब्रत नियमों का भंग करना। और दूसरे धर्मात्मा पुरुषों को भी ब्रत, नियम, संयमादि शुभ क्रियाओं को करने नहीं देना। इसीप्रकार अनेक धर्मनीति विरुद्ध कार्य करना यह सब असातावेदनीय कर्म बन्ध के कारण हैं।

**पाप का फल दुःख व कुगतियों की प्राप्ति**

**हिंसादिविहामुत्रापायवेद्यदर्थनम् ॥ ९ ॥**

**दुःखमेव वा ॥१०॥**

**हिंसादि पाँचों दोषों में ऐहिक और पारलौकिक उपाय और अवध का**

**ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 210 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने**

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

दर्शन में भावने योग्य है। अथवा हिंसादिक दुःख ही है, ऐसी भावना करनी चाहिये। (स. सि. अध्याय-६ सू. ९-१०)

**असुहोदयेण आदा कुणरोतिरियो भवीय णेरइयो ।**

**दुक्खसहस्रसहि सदा अर्भिधुदो भमदि अचंतां ॥ (प्र. सा. -गा.-12)**

अशुभ उदय से कुमानुष, तिर्यच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।

**काणि पावफलाणि । ग्रिर्य-तिरिय कुमाणुष जाह-जरा-मरण वाहिवेयण-दारिद्र्यादीणि । ( ध. १-१, १-२-१०५-५ )**

**शंका — पाप के फल कौन से हैं ?**

**समाधान — नरक, तिर्यच और कुमानुष की योनियों में जन्म-मरण व्याधि वेदना और दारिद्री आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं।**

**पाप अत्यन्त हेय है-**

**तत्त्वादित्रलवस्याप्यभावादत्यन्त हेय एवायमस्युभोपयोग इति ।**

**चात्रित्र के लेश मात्र का भी अभाव होने में यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। ( स. सि. आ. – ३०६ )**

**यस्तावदज्ञानिजन साधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्म सिद्ध्याभाव स्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव ।**

प्रथम तो जो अज्ञानी जन साधारण ( अज्ञानी लोकों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव रूप स्वभाव वाले हैं। इसलिये स्वयमेव अपराध स्वरूप होने से विषकुम्भ ही है। क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं।

**अशुभ एवं शुभ भावों के फल-**

**असुहादो णिरयात् सुहभावादो दु सग्ग सुहमाओ ।**

**दुह-सुहभावं जाणदु जं ते स्वयेद णं कुणही ॥**

पञ्चेन्द्रियादि विषय और कषाय रूप अशुभ भावों से नरकादि दुर्गति का दुःख मिलता है और देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति रूपी शुभ भावनाओं से स्वगार्दिक अभ्युदय सुखों की प्राप्ति होती है। सुख और दुःख अशुभ और शुभ भावों पर आधारित है।

**ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 211 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने**

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

हे भव्य आत्मन् ! आप को जो अच्छा लगे सो करो। दुःख चाहिये तो अशुभ भाव करो। और सुख चाहिये तो शुभ भाव करो। इतना सदैव ध्यान रखो जो तुम कर्म करोगे वह तुम्हें भोगना ही होगा।

पुण्य त्याग करने योग्य व्यक्ति कौन है ?

अत्राह प्रभाकर भट्ट तर्हि ये केचन पुण्य पाप द्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्विरिति । भगवानाह । यदि शुद्धात्मानुभूतिं लक्षणं त्रिगुप्तिं गुप्त वीतरागं निर्विकल्पं परमस्तमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा सम्मतमेव । यदि पुनर्लक्ष्य विद्यामवलथामलभमानापिस्तंतो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्याकादिकं च त्यक्तचोभयं भृष्णः संतः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्य ॥

**अर्थः—** प्रभाकर भट्ट कहते हैं यदि जो कोई पुण्य पाप इन दोनों को समान मानकर रहते हैं तो उनके मत में आप दूषण क्यों देते हैं ? योगीन्द्र देव कहते हैं— जब शुद्धात्मानुभूति स्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुये पुण्य पाप को समान जानते हैं तब तो सम्मत ही है। परन्तु जो मूढ़ परम समाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान पूजादिक शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं। और मुनि पद में छः आवश्यक क्रियाओं को छोड़ देते हैं वे दोनों तरफ से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये उनके मत में जो पुण्य और पाप को समान मानते हैं हुये रहते हैं सो ही दूषण हैं। (प. प्रकाश-पा. 182)

अथ हे जीवजिनेख पदे परम भक्तिं कुर्विति शिक्षां दत्तात्रि-

“अरि जिय जिण -पइ भति करि सुहि सज्जणु अवेहरि ।

ति वप्पेण वि कज्जु णवि जो पड़इ संसारे ॥ 134 ॥”

हे आत्मन् ! अनादि काले दुर्लभे वीतराग सर्वज्ञ प्रणीते रागद्वेष मोह रहिते जीवं परिणामं लक्षणे शुद्धोपयोगस्तुपे निश्चय धर्मं व्यवहार धर्मं च पुनः षडावश्याकादि लक्षणे गृहस्थापेक्षया दान-पूजादि लक्षणे वा शुभोपयोग स्वरूपे रत्ति कुल । इत्थंभूते धर्मं प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रमपि त्यज तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति । अयार्थं भावार्थः । विषय सुख निमित्त यथानुरागं करोति । जीवरूपं जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे नपततीति ॥

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

विस इहं कारणि सबु जणु जिम अणरात् करेइ ।

तिम जिणभसिए धमि जइण उ संसारी पडेइ ॥

**अर्थः—** हे आत्मन् ! अनादि काल से दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञ का कहा हुआ राग-द्वेष मोह रहित शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म और शुभोपयोग रूप व्यवहार धर्म उनमें भी छः आवश्यक रूप यतीका धर्म, दान पूजादि श्रावक का यह धर्म शुभाचार रूप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीति कर। इस धर्म से विमुख जो अपने कुल का मनुष्य उसे छोड़ और उस धर्म के सन्मुख जो पर कुटुम्ब का भी मनुष्य है उससे प्रीति कर। तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसे विषय सुख से प्रीति करता है, वैसे जो जिनधर्म में करे तो संसार में नहीं भटके। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि विषय कारणों में ज्ञान जीव बारंबार प्रेम करता है, वैसे जो जिन धर्म में करें तो संसार में भ्रमण न करें। (परमात्म प्रकाश)

यत्प्राग्जन्मनिं संवितं तनुभूता कर्माशुभं वा शुभं ।

तदैवं तदुदीरणाद्यनुभवन् दुःख सुखं वागतम् ।

कुर्यादि: शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तुभयोच्छितये ।

सर्वारम्भं परिग्रहं परित्यागी स वन्धः सताम् ॥ 262 ॥ (आत्मानुशासन)

**अर्थः—** प्राणी ने पूर्व भव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया है वह दैव कहा जाता है। उसकी उदीरण से प्राप्त दुःख अथवा सुख का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है। पाप कार्यों को छोड़कर केवल पुण्य कार्यों को ही करता है वह भी अभीष्ट है प्रशंसा के योग्य है किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों (पुण्य-पाप) को ही नष्ट करने के लिये समस्त आरम्भ व परिग्रह पिशाच को छोड़ कर शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषों के लिये वंदनीय पूज्य है।

शुभाशुभे पुण्यं पापे दुःखे च षट् त्रयम् ।

हितमाधमनुष्ठेयं शेषं त्रयमधाहितम् ॥ 23१ ॥

तत्राप्यद्यं परित्याज्यं शेषो न स्तः स्वतः स्वयम् ।

शुभं च शुद्धे त्यक्तवानो प्राज्ञोति परमं पदम् ॥ 24० ॥

**अर्थः—** शुभ और अशुभ, पुण्य और पापसुख और दुःख इसप्रकार ये छः हुए। इन छोड़ों के तीन युगलों में से आदि के तीन शुभ, पुण्य और सुख आत्म के लिये हितकारक होने से आचरण के योग्य हैं। तथा शेष तीन अशुभ-पाप और

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

दुःख अहितकारक होने से छोड़ने के योग्य हैं।

**विशेषार्थः—** अभिप्राय यह है कि जिनपूजादिक शुभ क्रियाओं के द्वारा पुण्य कर्म का बन्ध होता है। इसके विपरीत हिंसा एवं असत्य संभाषणादिरूप अशुभ क्रियाओं के द्वारा पाप का बन्ध होता है और उस पाप कर्म के उदय में प्राप्त होने पर उससे दुःख की प्राप्ति होती है।

इसलिये उक्त छः में से शुभ पुण्य और सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ पाप और दुःख ये तीन हेय हैं।

पूर्व श्लोक में जिन तीन को शुभ-पुण्य और सुख को हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (अशुभ का) परित्याग करना चाहिये। ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभ छोड़कर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

**विशेषार्थ :-** ऊपर जो इस श्लोक का अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीका कार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के अभिप्रायानुसार लिखा गया है। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ इसप्रकार किया जा सकता है। श्लोक 239 में जो अशुभ पाप और दुःख ये तीन अहितकारक बतलाये गये हैं उनमें भी प्रथम अशुभ का ही त्याग करना चाहिये। कारण यह है कि ऐसा होने पर शेष दोनों पाप और दुःख स्वयंमेव नहीं रहते हैं क्योंकि इनका मूल कारण अशुभ ही है। इसप्रकार जब मूल कारणभूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्यभूत पाप स्वयंमेव नष्ट हो जाएगा और जब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्यभूत दुःख की भी कैसे सम्भावना की जा सकती है, नहीं की जा सकती है। इसप्रकार उक्त अहितकारक तीन के नष्ट हो जाने पर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते हैं वे भी वास्तव में हितकारक नहीं हैं। उनको जो हितकारक व अनुष्ठेय बतलाया गया है वह अतिशय अहितकारी अशुभादिक अपेक्षा ही बतलाया है। यथार्थ में तो वे भी परतंत्रता के कारण हैं। भेद इतना ही है कि जहाँ अशुभादिक जीव को नारक और तिर्यच पर्याय में प्राप्त कराकर केवल दुःख का अनुभव कराते हैं वहाँ वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवों में उत्पन्न कराते हैं। दुःख मिश्रित सुख का अनुभव कराते हैं। इसलिये यहाँ यह बतलाया है कि उन अशुभादिक तीन को छोड़ देने के पश्चात् शुद्धोपयोग में स्थित होकर उस शुभ को छोड़ देना चाहिये। इसप्रकार अन्त

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

में उस शुभ के अविनाभावि पुण्य व सांसारिक सुख के भी नष्ट हो जाने पर जीव उस निर्बाध मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है जो कि अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला है।

**वरं त्रैतै पदं दैवं नाग्रतैर्वत् नारकं।**

**छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ 3 ॥ इष्टोपदेश**

**अर्थः—** व्रतों के द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे—छाया और धूप में बैठने वाले में अन्तर पाया जाता है वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करने वाले में फर्क पाया जाता है।

व्रतादिक पालने से पापकर्मों की निर्जरा होती है और पुण्य कर्म का बन्ध होता है परन्तु पुण्य बन्ध इहलोक व परलोक सुख का कारण है और परम्परा से मुक्ति का कारण है।

**शुभःशुभानुबन्धीति बन्धक्षेदाय जायते।**

**पारंपर्यं यो बन्धः स प्रबन्धाद्विधीयते ॥ 54 ॥ (धर्मत्वाकर)**

**अर्थ :-** शुभ भाव से शुभानुबन्धी होता है और यह शुभानुबन्धी परम्परा से बन्ध छेद के लिये कारण हो जाता है। इसलिये शुभानुबन्धी कर्म को प्रचुर रूप से करना चाहिये।

**विशेषार्थ :-** शरीर में काँटा घुसने के बाद उस काँटे को निकालने के लिये एक सुदृढ़ काँटा चाहिये, शरीर स्थित काँटे को जब तक नहीं निकालते तब तक इस सुदृढ़ काँटे की परम आवश्यकता है। शरीर स्थित काँटा निकालने के बाद उस सुदृढ़ काँटा की आवश्यकता स्वयंमेव नहीं रहती, उसीप्रकार पाप कर्म देह स्थित काँटे के समान है। उस पाप कर्म को निकालने के लिये एक सुदृढ़ पुण्यरूपी काँटा चाहिये। पापरूपी काँटा निकालने के बाद पुण्यरूपी काँटे की आवश्यकता स्वयंमेव हट जाती है। जैसे— मलिन वस्तु के संपर्क से वस्त्र अस्वच्छ हो जाता है। उस अस्वच्छता को हटाने के लिये पानी, साबुन, टिनोपॉल चाहिये। पानी और साबुन के प्रयोग से जब वस्त्र स्वच्छ हो जाता है तब उस वस्त्र पर लगे हुए साबुन को भी स्वच्छ पानी से धोकर निकाल देते हैं। वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उसको टीनोपॉल में डालकर उसको चमकाते हैं। वस्त्र से साबुन और पानी अलग वस्तु है (परद्रव्य है)। तो भी बिना पानी और साबुन से मलिन वस्त्र स्वच्छ नहीं होता है। परन्तु स्वच्छ

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

होने के बाद साबुन और पानी की आवश्यकता नहीं रहती है। मलिन अवस्था में टीनोपॉल वस्त्र को लगाने पर उसमें चमक नहीं आ सकती है। इसीप्रकार आत्मा को स्वच्छ करने के लिये शुभभावरूपी पानी और पुण्यरूपी साबुन चाहिये। इसके माध्यम से मलिन पापात्मा का पवित्र पुण्यात्मा होने के बाद शुक्लध्यानुरूपी टीनोपॉल से उसको केवलज्ञान रूपी प्रकाश से चमकना चाहिये। जब तक आत्मा को शुभ भाव और पुण्य से स्वच्छ नहीं करते तब तक शुक्लध्यान रूपी टीनोपॉल का किसी प्रकार परिणाम नहीं हो सकता है। वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उस वस्त्र में स्थित पानी को भी निकाल देते हैं। इसीप्रकार अयोग केवली १४ वें गुणस्थान की अवस्था में व्युपरत क्रिया निवृत्तिरूपी परम शुक्ल ध्यान से पुण्यरूपी करण को भी सुखाकर पृथक् करना चाहिये तब जाकर आत्मा निरंजन, निष्कलंक होता है।

**अहो पुण्यवना पुंसां कष्टं वापि सुखायते।**

**तस्माद्वयैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितः॥**

**अर्थः—** अहो आश्र्वय की बात है कि पुण्यवान के लिये कष्ट भी सुखकर हो जाता है, इसलिये हे भव्य! जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित पुण्य को तुम प्रयत्न पूर्वक करो।

**यस्य पुण्यं च पापं च निष्कलं गलति स्वयम्।**

**स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः॥ २४६॥**

**टीका :-** यस्य च कर्मणां स्वकार्यकुर्वतामेव विशेषो भवति च एवं योगीत्याहयस्येत्यादि। यस्य परम वीतरागस्य निष्कलं स्वकार्यम् अकुर्वत् सङ्क। गलति उग्र तपः सामर्थ्यदुद्यमानीय जीर्यते। न पुनरास्रवो न पुनः कर्मणागमकम् संवर एव भवतीत्यर्थः॥

**अर्थः—** जिनका कर्म उदय में आकर भी बिना फल दिये खिर जाता है वह योगी है। वह परम वीतरागी होता है। परम वीतरागी मुनि उग्र तप के माध्यम से भविष्य में उदय आने योग्य कर्म को गला देता है। उसीप्रकार मुनीश्वरों को नवीन आस्रव या बन्ध नहीं होता है। उस परम वीतरागी मुनीश्वरों का पाप एवं पुण्य स्वयमेव निष्कल होकर खिर जाते हैं और उनको नवीन कर्मस्त्रव बन्ध नहीं होता है। उन्हीं को परम निवारण की प्राप्ति होती है।

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 216 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

## ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

**असुहाण पण्डीणं अणंत भागा रससस खंडाणि।**

**सुहपयडीणं पियमा णतिथ ति रससस खण्डाणि ॥ ८० ॥**

**अर्थः—** अप्रशस्त अर्थात् पाप प्रकृतियों के अनंत बहुभाग का घात नियम से नहीं होता है क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है परन्तु घात नहीं होता है। तथा विशुद्धि के कारण पाप प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर हास को प्राप्त होता है परन्तु वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है।

**पठमापुव्वरसादी चरिमे समये पसत्थइदराणि।**

**रससतमणंत गुण अणंतगुणं हीणयं हीदि ॥ ८२ ॥**

**अर्थ :-** अपूर्व करण में प्रतिसमय अणंतगुणी विशुद्धि होने के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का अनंतगुण बढ़ता अनुभाग सत्त्व है। तथा विशुद्धि के कारण अनुभाग काण्डक घात के महत्व से अप्रशस्त प्रकृतियों की अनन्तत्वाँ भाग सत्त्व चरम समय में होता है। इसकारण अधःकरण के प्रथम समय संबंधी प्रशस्त प्रकृतियों का जो अनुभाग सत्त्व है उससे अधःकरण के चरम समय में प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग सत्त्व अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितना है। उससे अनंतगुणाहीन अपूर्णकरण के चरम समय में है।

इससे सिद्ध होता है कि आत्म विशुद्धि से पुण्य कर्म चौदहवाँ गुणस्थान के नीचे नीचे नाश नहीं होते हैं परन्तु वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तथा पाप कर्म आत्म विशुद्धि से नाश होता है किन्तु वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है। (लघ्व सार)

**विशेषार्थ :-** चतुर्थ गुणस्थान से आगे उत्तरोत्तर पापकर्म का संवर और निर्जरा की वृद्धि हो जाती है। और पुण्य कर्म का आस्रव और बन्ध उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। इसप्रकार क्रिया सक्षमाय गुणस्थान तक ( १० वें गुणस्थान तक ) चलती रहती है। क्षीणक्षमाय आदि गुणस्थान में पुण्यास्रव होता है फिर भी बन्ध नहीं होता है परन्तु पुण्य कर्म तेरहवें गुणस्थान तक नष्ट नहीं होता किन्तु बढ़ता ही रहता है। परन्तु परम योगी शैलेश अवस्था को प्राप्त अयोगी केवली गुणस्थान के चरम समय और द्विचरम समय में संपूर्ण पुण्य और पाप कर्मों का समूल विनाश हो जाता है। पाप प्रकृति की यथा योग्य द्वितीयादि गुणस्थान में संवर एवं निर्जरा होती है। परन्तु विशिष्ट पुण्य कर्मों का संवर निर्जरा

ॐ शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने 217 शत्रुघ्ने शत्रुघ्ने

१४वें गुणस्थान के नीचे नीचे होती नहीं है। परंतु उत्तरोत्तर गुणस्थान में अनुभाग शक्ति बढ़ती जाती है। परन्तु परिनिर्वाण के पूर्ववर्ती समय में सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

### किनके पुण्य हैं?

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण होई मइ-मोहो।

मइ मोहेण य पाव ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ ६० ॥

**अर्थः—** पुण्य से घर में धन होता है और धन से अभिमान, मान से बुद्धि भ्रम होता है। बुद्धि के भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है। इसलिये ऐसा पुण्य हमारा न हो।

टीका :- पुण्णेण इत्यादि। पुण्णे होइ विहवो पुण्णेण विभवो विभूतिभवति, विहवेण मभो विभवेण मदोऽहंकारो गर्वं भवति मएण मझमोहो विज्ञानाद्याध्यमदेन मतिमोहो मतिभंश्यो विवेक मूढत्वं भवति। मझमोहेण य पावं मति मूढत्वेन पापं भवति ता पुण्यं अहंमा तद्मादिथेभूतं पुण्यं अस्माकमाभूदिति। तथा च इदं पूर्वोक्तं भेदभेद रत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्ट-, श्रुतानुभूत भोगाकांक्षारूप निदानबन्ध परिणामस्थितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वं भवेत तदेव मदमहंकार जन्मयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुनः सम्यक्त्वादि गुणस्थित भरत-संगर राम पांडव आदि पुण्यं बन्धनवत्। यदि पुनः सर्वेषां मदंजन्मयति तर्हि ते कथं पुण्यं भाजन्मा सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्ष गताः इति भावार्थः। तथा चोक्तं चिरनन्मनं निरहंकारात्म-

“ सत्यं गवि मतौ श्रुतं हदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे ।

लक्ष्मीर्दानमनूनमधीनिचये मार्गं गतिनिर्वृतेः ॥”

प्राग्जनीहं तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गच्छराश्चित्रं संप्रति

लेशतोऽपि न गुणात्मेषां तथाप्यज्ज्ञताः ॥ ६० ॥

भेदभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखें, सुने अनुभवे भोगों की वांछारूप निदान बन्ध के परिणामों से सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञान जीव है। उसने पहले उपार्जन किये भोगों की वांछारूप पुण्य उसके फल से प्राप्त हुई घर में सम्पदा होने से अभिमान (घमंड) होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है और पाप से भव-भव में अनंत दुःख पाता है।

इसलिये मिथ्यादृष्टियों का पुण्य, पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादिगुणसहित भरत, राम, पाण्डवादिक विवेकी जीव हैं उनको पुण्य बन्ध अभिमान उत्पन्न नहीं करता परम्परा से मोक्ष का कारण है। जैसे— अज्ञानियों को पुण्य का फल विभूति गर्व कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियों के नहीं है। वे सम्यग्दृष्टि पुण्य के पात्र हुये चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहंकार आदि विकल्पों को छोड़कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती बलभद्र पद में भी निरहंकार रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथ में श्री गुणभद्राचार्य ने किया है कि पहले समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं कि जिनके वचन में सत्य बुद्धि में शास्त्र, मन में दया, पराक्रम रूप भुजाओं में शूरवीरता याचकों में पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्ष मार्ग में गमन है। वे निराभिमानी हुये जिनको किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध है। परन्तु अब बड़ा अचम्भा है कि इस पंचमकाल में लेश मात्र भी गुण नहीं है तो भी उद्धतापना है, यानी गुण नों रंच मात्र भी नहीं और अभिमान में बुद्धि रहती है। (परमात्म प्रकाश)

**पाप भी उपादेय है।**

अथ यैन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थ धमाभिमुखो भवती तत्पापमपि समीचीनमिति दर्थ्याति-

वर जिय पावइँ सुन्दरइँ णावई ताई भणंति।

जीवहैं दुकरवइँ जाणिवि लहु सिवमई जाई कुणति ॥ ५६ ॥

वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति।

जीगानां दुःखानि जनित्वा लघुशिवमर्ति यानि कुर्वन्ति ॥ ५६ ॥

टीका :- वर जिय इत्यादि। वर जिय वरं किन्तु हे जीव पावइ सुन्दरइ पापानी सुन्दरामि समीचीनमि भणंति कथ्यन्ति । के । णाणिय ज्ञानिनः तत्ववेदिनः । कान्ति । ताइं तामिपूर्वोक्तान्ति पापानि । कथंभूतान्ति । जीवहैं दुकरवइ जणिवि लहु सिवमई जाई कुणत्वं जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमति मुक्तियोग्यमतिं यानि कुर्वन्ति। अयमत्राभिप्राप्यः। यत्र भेदभेदरत्नत्रयत्माकं श्री धर्मं लभते जीवस्तत्पापजनिति दुःखमपि श्रेष्ठमिति करमादिति चेत्। “आर्ता नदा धर्मं परा भवन्ति” इति वचनात् ॥ ५६ ॥

**अर्थः—** आगे जिस पाप के फल से यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

दुःख को दूर करने के लिये धर्म सन्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है। ऐसा दिखलाते हैं।

हे जीव! जो पाप के उदय से जीव को दुःख देकर शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धिकर दें तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं, ज्ञानी ऐसा कहते हैं।

कोई जीव पाप करके नरक में गया वहाँ पर महान् दुःख भोग उससे कोई समय किसी भी जीव के सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण हैं। पहला तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधन को (चेतावने को) जाते हैं। कभी कोई जीव को धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण— पूर्व भव का स्मरण और तीसरा—नरक की पीड़ाकारी दुःख से दुःखी होना, नरक को महान् दुःख का स्थान जानकर नरक के कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और आरम्भादिक हैं उनको खराब जान के पापसे उदास होना।

तीसरे नरक तक ये तीन कारण हैं। आगे के चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें नरक में देवों का गमन न होने से धर्मश्रवण तो है ही नहीं लेकिन जातिस्मरण है तथा वेदना कर दुःख हो के पाप से भयभीत होना वे दो ही कारण हैं। इन कारणों को पाकर किसी जीव के सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इस नय से कोई भव्य जीव पाप के उदय से खोटी गति में गया वहाँ जाकर यदि सुलट जावे तथा सम्यक्त्व पावे तो वे कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है। यही योगीन्द्राचार्य ने मूल में कहा है कि जो पाप जीवों को दुःख प्राप्त करा करके फिर शीघ्र ही मोक्ष मार्ग में बुद्धि को लगावें, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं। तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तप से देव भी हुआ और देव से मरकर एकेन्द्रिय हुआ तो वह देवपना किस काम का? अज्ञानी का देवपना भी वृथा है। जो कभी ज्ञान के प्रसाद से उत्कृष्ट देव हो के बहुत काल तक सुख भोग के देव से मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्ष को पावे तो वह भी अच्छा है।

ज्ञानी पुरुष उन पापियों को भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पाप के प्रभाव से दुःख भोगकर उस दुःख से डर के दुःख के मूल कारण पाप को जानके उस पाप से उदास होवे, वे प्रशंसा करने योग्य हैं, और पापी जीव प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। क्योंकि पाप क्रिया हमेशा निंदनीय है। भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप श्री वीतराग देव के

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

धर्म को जो धारण करते हैं वे श्रेष्ठ हैं। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुःखी धारण करते हैं तब भी ठीक, क्योंकि शास्त्र का वचन है कि कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्म में लवलीन होते हैं। (परमात्म प्रकाश)

दुःख में सुमिरन सब करै, सुख में करे न कोय।

जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय॥

**अर्थ :-**— साधारणतः संसारी जीव दुःख के समय में धर्म का आचरण करता है। परन्तु धर्म के कारण किंचित् सुख प्राप्त होने से धर्म को ही भूल जाता है, पापादिक क्रियाओं में लग जाता है, तब पुनः दुःख प्राप्त होता है। यदि जीव सुख के समय में भी धर्म आचरण करने लगेगा तो कभी भी दुःख नहीं होगा।

कृत्वा धर्मविधातं विषयासुखवान्यनुभवन्ति ये मोहात्।

आच्छिद्य तरुन् मूलात् फलानि गृणन्ति ते पापाः॥ 24॥

**अर्थ:-**— जो मोही कामअंधा, विषयासक्त, जीव अज्ञानता से धर्म को नष्ट करके विषय सुखों का अनुभव करते हैं वे पापी वृक्ष को जड़ से उखाड़कर फल को ग्रहण करना चाहते हैं। अर्थात् पूर्व पुण्य कर्म के उदय से जो कुछ वैभव मिला है उस वैभव में लीन होकर जो केवल भोगासक्त होता है वह पूर्व उपर्जित पुण्य को पूर्णरूप से भोग करता है। परन्तु नवीन पुण्यार्जन नहीं करता जिससे पाप ही पाप उसके पल्ले में रहता है। उससे वह नरक, निगोद में जाता है। इसलिये पूर्वार्जित पुण्य से वैभव मिला उसको बिना त्याग भोग करने से उस पुण्य से उसकी दुर्गति हुई इसप्रकार से पुण्य हेय है। (आत्मानुशासन)

मिथ्यादृष्टि को पापानुबन्धि पुण्य से जो वैभव की प्राप्त होती है उस वैभव में मिथ्यादृष्टि लीन होकर आसाक्ति पूर्वक भोग करता है किन्तु त्याग नहीं करता उसका वैभव अर्थात् पुण्य फल संसार का कारण है। इसलिये उसका पुण्य कर्म परम्परा से मोक्ष का कारण नहीं होता है। किन्तु संसार का कारण होता है अर्थात् पुण्य फल रूप वैभव को प्राप्त कर जो आसाक्ति पूर्वक भोगता है वह मिथ्यादृष्टि है। रागी बहिराता है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य ही पुण्यानुबंधी पुण्य है, सम्यग्दृष्टि पुण्यरूप वैभव को प्राप्त कर उसमें वह आसाक्ति पूर्वक लीन नहीं होता है। वह सोचता है जानता है मानता है कि यह वैभव मेरे आत्म स्वरूप से पृथक् है, पुण्य कर्म का फल है कुछ चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मिक शक्ति अभाव से रोगी जैसे

ॐ नमः शश्वत् तत्त्वात्

२२१

२२०

तिक्त औषध सेवन करता है अनासक्त पूर्वक उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टि भोग को रोग मानकर निस्तपाय होकर अनासक्त पूर्वक भोगता है। वह अनासक्त पूर्वक भोगते हुए कर्म को बाँधता ही है परन्तु जितने अंश में अनासक्त भाव है उतने अंश में कर्म बंध नहीं होता है। परन्तु अन्तरंग में सतत भोगों की निंदा गर्हा करते हुए उन भोगों से छूटने के लिये रास्ता ढूँढ़ता रहता है।

जब तक जीव सम्पूर्ण भोग, आरंभ, परिग्रहों से विरक्त नहीं हो पाता है तब तक स्वशक्ति के अनुसार दान, पूजा, गुरु सेवादि करते हुये पूर्व पुण्यका सदुपयोग करता है और अंत में समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को त्याग कर निर्ग्रथ होकर व्यवहार-निश्चय रलत्रय का साधन कर मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि का पुण्य परंपरा से मोक्ष का कारण है तथा मिथ्यादृष्टि का पुण्य परंपरा से संसार का कारण है।

“आर्त नरा धर्मपरा भवन्ति” पाप कर्म के उदय से जीव को जब कष्ट उठाना पड़ता है उस समय में वह पाप कर्मों का स्वरूप समझकर पाप से निवृत्त होकर धर्म में लगता है। जैसे नरक में तीव्र वेदना का अनुभव कर नारकी पाप फलों का चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है, इसीप्रकार जीव पाप कर्म के फल से संतप्त होकर पाप से डर कर अधर्म छोड़कर धर्म करने लगता है। इसलिये संसार में विरक्त होने के लिये एवं धर्म में प्रवृत्ति होने के लिये पापकर्म में भी निमित्त है अर्थात् जिस पाप फल से दुःखों से, संताप से, संकटों से जीव भयभीत होकर धर्म में लगते हैं वह पाप भी उपादेय है। इसलिये भव्य जीवों को संबोधन करते हुये आचार्यों ने प्रेरणा दी है—

“सुरिवतस्य दुःरिवतस्य च संसारे धर्म एव तत्र कार्य।

सुरिवतस्य तद्भितृधर्मे दुःख भुजस्तदुपधाताय ॥ 18 ॥”

अर्थ — हे जीव ! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो, चाहे दुःख का अनुभव कर रहा हो, किन्तु संसार में इन दोनों ही अवस्था में एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये। कारण यह है कि वह धर्म यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुख की वृद्धि का कारण होगा, और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख के विनाश का कारण होगा।

### ध्यान अवस्था

अप्रमत्तविरत गुणस्थान — मोक्ष मार्ग का पथिक जब मोक्षमार्ग के विपरीत जो अंतरंग व बहिरंग परिग्रह उसका त्याग करके मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है अनादि कालीन संस्कार एवं अनभ्यास के कारण जो कुछ आत्म-ध्यान के लिये बाधक कारणरूपी प्रमाद है उसको सतत ज्ञान वैराग्य रूपी शस्त्र द्वारा नष्ट करके स्वयं में लीन-स्थिर हो जाता है। उसको ध्यान कहते हैं। उस आत्मस्थ अवस्था विशेष को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं।

णामा सेस पमाओ वयगुणसीलेहि मैडिओ णाणी।

अणुवसमओ अखवओ झाणणिवीणो हु अप्पमतो ॥ 614 ॥

(भा. सं ॥ पृष्ठ 282)

जिस समय में मोक्षमार्गस्थ ज्ञानी समस्त प्रमादों को नष्ट करके व्रत-गुण-शील से मंडित होकर ध्यान में लीन होता है, परन्तु उपशम या क्षपक श्रेणी आरोहण नहीं किया है उस समय में अप्रमत्त विरत आत्मावस्था होती है। अनादि कालीन संस्कार के कारण ज्ञानी मुनि ध्यानावस्था में सतत स्थिर नहीं है, इसलिये वह ध्यानावस्था से च्युत होकर प्रमत्त विरत अवस्था को प्राप्त होता है। पुनः शक्ति का संचय कर अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होकर ध्यान में लीन हो जाता है। इसप्रकार वह हजारों बार छटुवें से सातवें गुणस्थान में आता जात रहता है। उत्तम संहननधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि महामुनि उपशम श्रेणी एवं क्षपककरण श्रेणी दोनों श्रेणी का आरोहण करते हैं। परन्तु उपशम श्रेणी वाले अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होने पर एवं क्रोधादि अन्यतर कषायों के उदय से ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे गिरकर यथायोग्य गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं और वज्रवृषभनाराचसंहनन धारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि तद्भवमोक्षगामी चरमशरीरी महामुनि जब क्षपक श्रेणी आरोहण करते हैं तब सातिशय सातवें गुणस्थान से निरालम्ब शुक्लध्यान को ध्याते हैं।

एवं धम्मज्ञाणं कहिये अप्रमत्तगुण समाप्तेण।

सालंवममालंवं तं मुकरं इत्यं णायबं ॥ 639 ॥

एदमिह गुणद्वाणे जरिथ आवासयाण परिहारो।

झाणणणाम्भिधिरतं णिरंतरं अथितं जह्ना ॥ 640 ॥ (भा. सं. पृष्ठ 292)

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

अप्रमत्त गुणस्थान में धर्म ध्यान होता है यहाँ पर सालम्ब और निरालंब धर्मध्यान की मुख्यता है। उससे पूर्ववर्ती गुणस्थानों में छट्टवें, पाँचवें, चौथे में गौणरूप से धर्मध्यान होता है। धर्मध्यान उत्तरवर्ती गुणस्थानों में अर्थात् आठवें नवमें दसवें गुणस्थानों में भी होता है। इन गुणस्थानों में महामुनि समस्त प्रमाद से रहित होकर बाह्य क्रियाओं से विरत होकर निरंतर ध्यान में स्थिर होने के कारण उनके बाह्य आवश्यकादि क्रियाओं का परिहार हो जाता है। इसके पहले-पहले आवश्यक आदि क्रियाओं का पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

### अपूर्वकरण गुणस्थान

**खवएसु उवसमेसु य अउवणामेसु हवइ तिपयारं।**

**सुकंज्ञाणं णियमा मुहूर्त सवियक सवियार ॥ 643 ॥ (भा. सं.)**

क्षपक श्रेणी या उपशमश्रेणी आरोहण करने वाला जीव जब अपूर्वकरण गुणस्थान में पदार्पण करता है तब वहाँ पर पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्ल ध्यान प्रारंभ होता है। द्रव्य-गुण पर्यायों की संक्रमण अपेक्षा पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्लध्यान तीन प्रकार या अनेक प्रकार को होता है।

### अनिवृत्ति करण गुणस्थान

**सुकं तथं पडतं जिणेहि पुष्टुलकर्खणं झाणं।**

**णथि णियति पुणरवि जम्हा अणियहि तं तम्हा ॥ 650 ॥ (भा. सं. पृष्ठ 297)**

इन गुणस्थानों में पूर्वोक्त प्रथम पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्ल ध्यान होता है। यहाँ पर जीव के परिणाम विशुद्धि में निवृत्ति नहीं होती है। इसलिये इस गुणस्थान को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

### सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान

**धुदकोसंभुवतं, होदि जद्या सुहमण्यसंजुतं।**

**एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोति णादब्बो ॥ 58 ॥ (गो. जी. पृष्ठ 121)**

श्रेणी आरोहणकारी जीव आत्मिक विशेष विशुद्धि से राग को कर्षण करता हुआ जिस समय में सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त सूक्ष्म लोभ को वेदन करता है, उस समय में वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है। जैसे कुसुंभ के रंग से रंगा हुआ वन्धु सम्यक् रूप से बार बार धोने पर बहुत कुछ निकल कर सूक्ष्म लाल वर्ण से

## ॐ शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत् शश्वत्

युक्त होता है।

### उपशांत मोह गुणस्थान

**कदकफल जुदलं ग सरए सरवाणियं व णिम्मलए।**

**सयलोवसंत मोहो उवसंत कसापओ होदि ॥ 61 ॥ (गो. जी. पृ. 126)**

जैसे कदकफल के चूर्ण से युक्त जल निर्मल होता है अथवा मेघपटल से रहित शरद ऋतु में जैसे सरोवर का जल ऊपर से निर्मल रहता है, वैसे ही पूर्ण रूप से मोह को उपशांत करने वाला उपशांत कषाय होता है। जिसने कषाय नोकषायों को उपशान्त अर्थात् पूर्ण रूप से उदय के अयोग्य कर दिया है। वह उपशांत मोह गुणस्थानवर्ती होता है।

### क्षीणमोह गुणस्थान

**णिस्सेस खीणमोहो फलिहमल भायणुदय समचितो।**

**खीण कसाओ भण्णदि णिगंधो वीयरायेहि ॥ 62 ॥ (गो. जी. पृष्ठ 127)**

सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक अन्तिम समय में चारित्र मोह की प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेशों का बन्ध, उदय, उदीरण तथा सत्ता के व्युच्छिति होने पर उसके अनंतर समय में चारित्र मोह का भी पूर्ण रूप से विनाश होने पर जीव क्षीण कषाय होता है। उसका चित्त अर्थात् भावमन विशुद्ध परिणाम अतिनिर्मल स्फटिक पात्र में भरे निर्मल जल के समान होता है अर्थात् जैसे वह जल कलुषित नहीं होता है, उसी प्रकार यथाव्यात् चरित्र से पवित्र क्षीण कषाय का विशुद्ध परिणाम भी किसी कारण से कलुषित नहीं होता है। वही परमार्थ निर्ग्रथ है क्योंकि उसका कोई भी अंतरंग और बहिरंग परिग्रह नहीं होता है।

इस गुणस्थान में द्वितीय एकत्व वितर्क विचार ध्यान होता है।

### जीवन-मुक्त सकल परमात्मा -

**केवलणाण दिवायर किरणकलापवण्णासिय णणाणी।**

**णव केवल लधुगम सुजणिय परमण ववएसी ॥ 63 ॥**

(गो. जी. पृष्ठ 128)

जिनने केवल ज्ञान रूपी सूर्य किरण समूह से पदार्थों को प्रकाशित करने में प्रवीण, दिव्य ध्वनि के द्वारा, शिष्य जनों का अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया है उन्हें

केवलज्ञानी कहते हैं। इससे सयोग केवली भगवान् के भव्य जीवों का उपकार करने रूप परमार्थ पदार्थ सम्पदा कही है। तथा क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, केवलज्ञान, केवल दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन नव केवल लब्धियों के प्रकट होने से जिन्होंने वास्तव में परमात्मा नाम को प्राप्त किया है। इससे भगवान् अर्हन्त परमेष्ठि के अनन्त ज्ञानादि रूप स्वार्थ सम्पदा दिखायी है।

### शैलेश-अयोगी जिन

सीलेसीं संपत्तोः पिरुद्धं पिस्सेस आसवो जीवो।  
कम्मरय विष्णुमुक्तो गयजोगो केवली होदि ॥ 65 ॥

जो अठारह हजार शीलों के स्वामीपने को प्राप्त है, समस्त आस्त्रों के रुक जाने से जो नवीन बध्यमान कर्म रज से सर्वथा रहित होते हैं तथा मन-योग, वचन, काय-योग से रहित होने से अयोग जिन हैं। इस तरह जिनका योग नहीं है तथा केवली भी है वे अयोग केवली भगवान् परमेष्ठि हैं।

### अरहंत का विशेष वर्णन

पुण्णफला अरहंता तेसि किरिया पुणो हि औदिया।  
मोहादिहि विरहिया तम्सा सा खाइग ति मदा ॥ 45 ॥ (प्रवचन सा. पृष्ठ 104)

पञ्चकल्याण पूजाजनकं ब्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थकरनामपुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति । तेषां सा दिव्यध्वनिस्तूपवचनव्यापारादि क्रिया सा निःक्रियथुद्भात्मतत्व विपरीत कर्मोदय जनितत्वात्सर्वप्यौदयिकी भवति हि स्फुटं । निर्मोहशुद्भात्मतत्वप्रचण्डकमकाराहङ्कारोत्पादन समर्थ मोहादि विरहितत्वाद्यतः । तत्मात् सा यद्याप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्भात्मतत्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकी मता । (प्र. सा. ना. वृ. पृष्ठ)

तीर्थकर अरहंत भगवान् पुण्य फल स्वरूप हैं अर्थात् पञ्च महाकल्याण की पूजा को उत्पन्न करने वाला तथा तीन लोक को जीतने वाला जो तीर्थकर नाम कर्म पुण्य कर्म उसके फल स्वरूप अरहंत तीर्थकर होते हैं। तथा उन अरहन्तों की दिव्यध्वनि रूप वचन का व्यापार तथा शरीरादि के व्यापार रूप क्रिया स्पष्ट रूप से औदयिक है अर्थात् निष्क्रिय निज शुद्धात्म तत्व से उसकी क्रिया विपरीत है क्योंकि शुद्धात्मतत्व में कर्मोदय जनित किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं है। वह क्रिया मोहादिकों से अर्थात् मोह रहित निज आत्म तत्व के रोकने वाले तथा ममकार अंहकार को पैदा करने को समर्थ मोहादि से रहित है।

इसलिये क्षायिक है, वहाँ पर पुण्योदय रूप तीर्थकर नाम कर्म के अत्युक्तष्ट उदय से समवशरण में स्थितहोकर के उपदेश करना और विहार करने रूप क्रिया होते हुये भी मोहनीय कर्म के अभाव से कर्म बन्ध नहीं होता है तथा साता वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होते हुये भी वहाँ केवलज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि भले पुण्य प्रकृति के सद्भाव से साक्षात् सर्व कर्म विनिर्मुक्त रूप द्रव्य मोक्ष नहीं है परन्तु स्वात्मोपलब्धि रूप भाव मुक्त होने में पुण्य प्रकृति बाधक नहीं है। घातिकर्म रूप पाप प्रकृतियों का सद्भाव रहते हुये भाव मुक्त (जीवन मुक्त) अवस्था प्राप्त हो नहीं सकती है।

### सिद्धावस्था

अद्विह कम्मविलया पिण्डिय कज्जा प ण्डु संसारा ।  
दिद्धि सयलत्थ सारा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ 1 ॥ (ति.प. पृ. 1)

जो आठ प्रकार के कर्मों से विकल अर्थात् रहित है, करने योग्य कर्मों को कर चुके अर्थात् कृतकृत्य है, जिनका जन्म मरण रूप संसार नष्ट हो चुका है और जिन्होंने सम्पूर्ण पदार्थों के सार को देख लिया है, अर्थात् जो सर्वज्ञ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठि मेरे लिये सिद्धि प्रदान करें।

पितरवमरुवा पिण्डिय कज्जा पित्र विरंजणा पिरुजा ।  
पिमल बोधा सिद्धा पितरं जाणंति हु एककसमएण ॥ 17 ॥

(ति.प. अध्या. 9। पृ. 895)

अनुपम स्वरूप से संयुक्त, कृतकृत्य, नित्य, निरंजन, निरोग, और निर्मल बोध से युक्त सिद्धि एक ही समय में समस्त पदार्थों को सदैव जानते हैं।

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवीत गाधं विशालं ।  
वृद्धिहास व्यपेतं विषय विरहितं निःप्रतिद्वन्द्वं भावम् ।  
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपमतिं शाखतं सर्व कालम् ।  
उत्कृष्टाननासारं परमसुखमतःस्य सिद्धस्य जातम् ॥ 17 ॥ (सि. भवित)

सिद्ध भगवान् का अलौकिक परमसुख आत्मा से ही उत्पन्न, स्वयं अतिशय सहित, संपूर्ण बाधाओं से रहित, विशाल, विस्तीर्ण, वृद्धि हास से रहित, सांसारिक सुख से रहित, प्रतिद्वन्द्व से रहित, परद्रव्य निरपेक्ष उपमातीत अपरिमित, शाश्वतिक सर्वकाल स्थायी, परमोक्तष्ट को प्राप्त अनन्त सार सहित माहात्म्य से सहित है।

## उपसंहार

अनादि काल से जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में कर्म की तीव्रता से अत्यन्त अशुभ लेश्या-अशुभ भावों के रहते हुये अत्यन्त दारूण दुःखों को देने वाले आर्त-रौद्र ध्यान को करता है। इस अत्यन्त आत्म पतनरूप निम्न श्रेणीय अवस्था में यह जीव द्रव्य तत्त्वादि के स्वाभाव के घोरे में अपरिचित रहता है। उस समय आत्मजागृति नहीं होती है परन्तु सुसावस्था रहती है। किन्तु जब कभी अंतरंग-बहिरंग समस्त कारणों के सद्भाव होने पर सद्गुरु का उद्बोधन प्राप्त करके चिर मोह निद्रा से जागृत होकर स्वयं का, गुरु का, विश्व का, सत्य का, तत्व का दर्शन करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से आनंदामृत स्वरूप स्वयं के स्वरूप को प्राप्त करने की भावना होने पर भी गमन करने के अनाभ्यास होने के कारण आगे गमन अर्थात् चारित्र स्वरूप अपना उत्थान नहीं कर पाता है। जिसप्रकार नवजात शिशु गमन करने की इच्छा होने पर भी आगे गमन नहीं कर पाता है। उससे वह असमर्थ यात्री (असंयत सम्यग्दृष्टि) अन्तरंग में बहुत ही दुःखी हो जाता है। जब वह मार्ग में मंद गति से गमन करना प्रारंभ करता है, पूर्व अनभ्यास के कारण, अपरिचित यात्री होने के कारण, शक्ति कम होने के कारण, समर्थ मार्ग जानने वाले पथिक-अरिहंतादियों का आलम्बन लेता है, लेना ही होता है। उनसे प्रेम-अनुराग रखता है। उनसे विशेष मार्ग परिचय प्राप्त करता है। उन्हीं के निर्देशन के अनुसार उन्हीं के पीछे-पीछे धीरे धीरे चलता है।

“नहि कृतमुपकार साधव विस्मरनि” न्याय के अनुसार उन्हीं की सेवा, भक्ति, वन्दना करता है। उससे उसकी आत्मा कृतज्ञता के कारण रोमांच हो उठती है। मार्ग पर स्वयं आरूढ़ यती भी उसकी धर्म प्रीति, वात्सल्य को देखकर-जानकर उस भव्यात्म को आगे बढ़ने रूप चारित्र पर आरूढ़ होने का प्रोत्साहन देते हैं। आज तक जितने भी अनंतसुख को, आत्मिक सुख को प्राप्त कर चुके हैं वे सभी चारित्र पर आरूढ़ होकर ही हुये हैं। यदि बिना चारित्र के आत्मिक सुख की वाज्ञा करता है, वह स्वयं को धोखा दे रहा है, दीर्घ संसारी है, अनंत दुःख को भोगने वाला है। जो वास्तविक संसार के दुःखों से संवेग-वैराग्य को प्राप्त हुआ है संसार के दुःखों को हेय, त्याज्य समझा है, वास्तविक सुख चाहता है वह निश्चित ही व्यवहार-निश्चयात्मक चारित्र को धारण करेगा, धारक पुरुषों में

अनुराग करेगा, उन्हें प्रोत्साहन देगा। इससे वह अल्प चारित्र धारी की धर्मात्मा यतीवरों के, सम्यग्दृष्टि जीवों के सान्त्वना, सहाय, मार्गदर्शन पाकर आत्मिक शक्ति बढ़ती जाती है।

धीरे-धीरे गमन करते हुये जब आत्म शक्ति बढ़ती जाती है एवं कुछ अभ्यास के कारण उन यात्रियों के स्वरूप को धारण करके उनके साथ गमन करने का प्रयास करता है अर्थात् वह देशब्रती/ देश चारित्र धारी यथाजात रूप को धारण करने वाले सकल महाब्रत का परिपालन करने वाले मुनियों के साथ गमन करते हुये अनेक वन, नदी, पर्वत, कान्तार को उपसर्ग-परिषहों को सहते हुए पार करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। वह जानता है, मानता है कि रास्ता, लक्ष नहीं (मोक्ष नहीं) तो भी उन सब साधनों के बिना साध्य रूप स्व-स्वरूप मंजिल पर पहुँचा नहीं जा सकता है अतएव उन्हीं का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। आज नहीं तो कल इस भव में नहीं तो दूसरे भव में अवलम्बन तो लेना ही होगा। कोई औषध सेवन किये बिना रोग ठीक होता है ऐसा कहते हुये साधन रूप बाह्य उपचारों का लोप ही करे तो मूर्खता सिवाय दूसरा क्या कहा जाय? अतः साध्य की सिद्धि के लिये सम्यक् साधन-बाह्य-अभ्यन्तर सामग्री की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता है। परन्तु वह गमन (साधन) रूप क्रिया भी स्व-स्वरूप नहीं है। परन्तु जितना-जितना गमन होगा उतना-उतना लक्ष्य (मंजिल) समीप होगा। गमन करते -करते अर्थात् चारित्र पालन करते हुये आगे बढ़ेंगे तब स्वयं ही पीछे का रास्ता छूटता जाता है। अर्थात् विकल्प अवस्था में करने योग्य क्रियायें स्वयं ही गौण हो जाती हैं। जब वह पथिक लक्ष्यभूत स्व-स्वरूप में पहुँच जाता है तब वह यात्री ज्ञाननन्द रूप अमृत में लीन होकर गमनागमन रूप समस्त संकल्प-विकल्प से रहित होकर निर्विकल्प रूप स्वरूप में शाश्वतिक अवस्थान करता है। शाश्वत धाम को प्राप्त करता है। वहाँ पर न रास्ता है, न गमन है, न गमन का कारण है। वह स्वयं अब साध्य-साधक के विचारों से, कर्ता-हर्ता पन से परे होकर कृतकृत्य हो जाता है। स्वामोत्थ, निराबाध, अतीन्द्रिय, सहज ज्ञानामृतपान में सदा के लिये लीन हो जाता है।

उस परम कृतकृत्य, ज्ञानामृतमय, अलौकिक, अपुनरागम पथ के पथिक को अनन्तानन्त त्रिकरण शुद्धि पूर्वक नमोऽस्तु।

## અનુષ્ઠાનિક રજીસ્ટરેશન ફોર્મ

“તન્દે તદ્ ગુણ લખ્યે”  
 જયતુ અપુનરા ગમ પથ: |  
 જયતુ અપુનરાગમસ્ય પાપિક: ||  
 જયતુ અપુનરાગમ સ્વરૂપ :||  
 મંગલં ભગવાન જિન: મંગલં શ્રી જિનગણી।  
 મંગલં આત્મસાધક: મોક્ષમાર્ગસ્તુ મંગલમ्      || 1 ||  
 મંગલ દેવાદીરિઃ મંગલં કુન્યુસાગર: |  
 મંગલ ચિન્મયરૂપ: જીવધર્મસ્તુ મંગલમ्      || 2 ||  
 જૈન ધર્મસ્તુ મંગલમ् ||  
 વસ્તુ ધર્મસ્તુ મંગલમ् ||  
 આત્મ ધર્મસ્તુ મંગલમ् ||  
 ઇતિ શુભમ्

### આચાર્ય કનકનન્દી કી સૂક્તિયો

- \* ધર્મ કી આડુ મેં ધન કમાના માનો માતા કો વેશ્યા બનાકર ધન કમાના હૈ।
- \* અન્યાય સે ધનાર્જન કરકે દાન દેને કી અપેક્ષા ન્યાય સે ધનાર્જન કરના શ્રેષ્ઠ હૈ।
- \* સ્વચ્છન્દતા એવં પરતંત્રતા દોનોં બહિનેં હૈ।
- \* મધ સે ભી મદ (ગર્વ) અધિક મદકારી / નશાકારી હૈ।
- \* રક્ષકભાવ સે રહિત રક્ષક હી અધિક ભક્ષક બનતા હૈ।
- \* મોહ કે કારણ જીવ અયથાર્થ કો ભી યથાર્થ માન લેતા હૈ જૈસા કિ પત્ની કા શીલ (બ્રહ્મચર્ય) ભંગ (ભોગ) કરને વાલે પતિ કો ભી પતિ પરમેશ્વર/ પતિદેવ માન લેતે હૈને।
- \* મોક્ષ કા માર્ગ ધાર્મિક પંથ સે નહીં ગુજરતા હૈ પરન્તુ ભાવ કી પવિત્રતા સે ગુજરતા હૈ।

